विषय-सूची

पृष्ठ

जैनपुरातत्त्व और इतिहास-विषयक पाण्मासिक पत्र

भाग १६ } दिसम्बर, १९४९। पौष, वीर नि० सं० २४७६ { किरण २

सार्वजनिक भाषा की जैन मान्यता

[ले०—श्रीयुत प्रो० खुशालचन्द्र गोरावाला एम० ए० साहित्याचार्य]

वर्तमान स्थिति—यद्यपि भारतीय विधान परिषद् ने देश की भाषा तथा लिपि के रूप निश्चित कर दिये हैं तथापि इतना निश्चित है कि इन निर्णयों ने बहुत कम लोगों को सन्तुष्ट किया है। यदि हिन्दुस्तानी और रोमन लिपि के समर्थक अपनी पराजय का अनुभव कर रहे हैं तो हिन्दी और नागरी लिपि के पुजारी भी सशंक तथा असन्तुष्ट हैं। रोमन अङ्क उनके गले में ककड़ी के समान लग रहे हैं। भाषा के प्रश्न को लेकर उठी जटिल समस्याएँ तथा पारस्परिक कटुता आज भी तदवस्थ है। यदि हिन्दुस्तानी के समर्थक हिन्दी के व्यापक रूप के निर्माण की आड़ में कुछ प्रयत्न कर रहे हैं तो हिन्दी वाले भी हिन्दी को केवल संस्कृतनिष्ठ बनाने के लिए बद्धपरिकर हैं। स्थिति यह है कि भारत विभाजन जिस प्रकार साम्प्रदायिकता को मिटाने में असमर्थ रहा, ठीक उसी तरह भाषा-लिपि विषयक निर्णय भी अपने साध्य तक नहीं पहुंचे हैं और एक नये भेद के कारण को सम्भवतः जन्म दे चुके हैं। यह स्थिति इसलिए आयी कि देश नायकों ने अपनी चिन्ता तथा दृष्टि को राष्ट्र के अतीत तथा अन्तस्तल में नहीं पैठने दिया। यद्यपि देश को 'असाम्प्रदायिक राष्ट्र' माना गया है तथापि अंग्रेजों द्वारा परिपुष्ट साम्प्रदायिकता आज भी हमारे रोम रोम में समाया है। हम भारत को सामने रखकर न सोचते हैं, न बोलते हैं और न आचरण ही करते हैं। हमारी चिन्ता, भाषण तथा कार्य के प्रेरक या मूलाधार हिन्दुत्व इस्लाम, आदि ही बने हुए हैं। यही कारण है कि भाषा के निर्णय के समय भी ये दोनों बातें टकरा गयीं और एक नये प्रच्छन्न प्रकार की साम्प्रदायिकता की प्रेत-छाया में यह सीधा प्रश्न भी जटिलतम बन गया। यदि धर्मनीति

को राजनीति से सर्वथा पृथक् न माना गया होता तो विपुल भारतीय धार्मिक साहित्य उपेक्षा की वस्तु न होकर हमारे विचार, वचन तथा आचरण का मूल स्रोत होता। और उधर दृष्टि जाते ही राष्ट्र मुद्रा के लिए 'अशोक कैपिटल' के समान हमें राष्ट्र भाषा निर्माण का प्रकार तथा रूप भी मिल जाता, क्योंकि भारत में सदैव से विविध जनपदीय भाषाओं के होने पर भी एक सार्वजनीन भाषा चली आयी है।

सार्वजनीन भाषा की आवश्यकता

समय समय पर जब धर्म का उच्छेद होने लगता है तब तब शुद्ध आत्मा अपना विकास करते हुए तीर्थंकर रूप से जन्म पाते हैं, ऐसी जैन धर्म की मान्यता है। ये तीर्थंकर अपने विवेकी और संयत जीवन को बिताते हैं तथा अन्त में दीक्षा लेकर तपस्या करते हैं, और अपने पूर्ण (केवल) ज्ञानी रूप को पाते हैं[1]। अतः लोक सेवा की उत्कट भावना युक्त आत्मा ही तीर्थंकर होते हैं अतः इनके केवली होते ही गुण-ग्राही लोग (देव तथा संसारी) उनके पास पहुँचते हैं। और ऐसी बाह्य व्यवस्था भी करते हैं कि जन साधारण तीर्थंकरों के ज्ञान से लाभ उठा लें। वे एक विशाल सभा (समवशरण) तैयार करते हैं जिसमें आगन्तुकों को सब प्रकार की धर्मलाभ की सुविधाएँ रहती हैं। इतना ही नहीं इस सभा में मुनि-आर्यिका, श्रावक-श्राविकाओं के अतिरिक्त पशु पक्षियों के भी बैठने की समुचित व्यवस्था रहती है। पुराणों में प्राप्त समवशरण के वर्णन को देखकर आज की सर्वथा सुसज्जित सभाएँ भी अपूर्ण मालूम देती हैं[2]। लिखा है कि उस समय तीर्थंकरों की साधना के अतिशय[3] के कारण लोक की स्थिति ही बदल जाती है और

१ श्री जिनसेनाचार्य प्रणीत त्रिषष्टि लक्षण महापुराण पर्व २०, २१।

२ ,, ,, ,, पर्व २२।

३ पुराणों में लिखा है कि प्रत्येक तीर्थंकर की कैवल्य प्राप्ति पर देव लोग निम्न अतिशय करते हैं—

प्रातिहार्याष्टकोपेतं सिद्धकल्याणपञ्चकम्।
चतुस्त्रिंशदतीशेषैरिद्धर्द्धि त्रिजगत्प्रभुम्॥ ७॥
अर्धमागधिकाकारभाषा परिणताखिल।
त्रिजगज्जनता मैत्री सम्पादनगुणाद्भुत॥२५०॥
स्वसन्निधानसम्फुल्ल फलिताकुरितद्रुम।
आदर्शमण्डलाकार परिवर्तित भूतल॥२५१॥
सुगन्धिशिशिरानुद्धेनुरयायी समीरण।
अकस्माज्जगतानंद सम्पादि परमोदय॥२५२॥
मरुत्कुमार सम्मृष्ट योजनान्तर रम्यभू।
स्तनितामर संसिक्त गन्धाम्बुविरजोऽध्वनि॥२५३॥

लोग सहज ही लौकिक चिन्ताओं से मुक्ति पाकर उपदेश सुनने पहुँचते हैं। फल स्वरूप समवशरण देश देशान्तरों के विविध वेश भूषाधारी अनेक भाषा भाषियों से परिपूर्ण रहता है। आपातत उपदेश की भाषा की समस्या सामने खड़ी होती है यत यह धर्म सभा थी, श्रोताओं के लौकिक स्वार्थों के टकराने की कम से कम सम्भावना थी, सबकी सद्धर्म श्रवण का अनुराग था फलत व्यवस्थित भाषा के प्रश्न को हल करते समय अहंकार और आवेश का शान्त रहना स्वाभाविक था।

उपदेश की भाषा—इस शान्त तथा परस्पर के सौहार्द मय वातावरण में जब प्रधान श्रोता (गणधर) आ जाते हैं तो भगवान तीर्थंकर का भाषण एक ऐसी भाषा में प्रारम्भ हुआ जो एक होकर भी समस्त मनुष्यों की भाषा थी, जिसमें अनेक साधारण भाषाओं (बोलियों) का भी समावेश था और शंका तथा विरोध को समाप्त करती हुई वह सत्य ज्ञान को कराती थी, यह सब तीर्थंकर की महिमा थी। तीर्थंकर की स्तुति करते हुए आगे इन्द्र कहता है—"हे देव आपकी मनोहर भाषा सांगोपांग तत्त्वज्ञान से पूर्ण है, वह समस्त भाषाओं और बोलियों का रूप है, जिनको लोगों को अविलम्ब तत्त्व ज्ञान कराती है और अपनी स्याद्वाद नीति के द्वारा अन्य मतों का अन्धकार दूर कर देती है[३]। इस प्रकार यह बताया गया है कि तीर्थंकर के उपदेश की भाषा बोलने समझने तथा लालित्य में सब को इष्ट थी किसी भी श्रोता को समझने में कोई कठिनाई नहीं हुई थी[४]। इस भाषा का नाम क्या था इसका उत्तर (अर्धमागधिका) भी इसी ग्रन्थ के १५ वे पूर्व के २५० वे श्लोक में दिया है।

मृदुस्पर्श सुखाम्भोज विन्यस्तपदपङ्कज ।
शालिव्रीह्यादिसस्य वसुधापृथितागम ॥२४॥
शरत्सरोवरस्पर्द्ध व्योमाङ्गहनमनिधिः ।
ककुभन्तरवमन्य म शिल समागमः ॥२५ ॥
धुसपरस्पराह्वान ध्वनिरुद्ध हरिन्मुख ।
हहमारस्फुरद्दम चक्र न पुर सर ॥२६॥ पर्व २५।

१— एकतमोऽपि च सर्वनृभाषा
सो तरन बहुश्च कुभाषा ।
अप्रतिपत्तिमपास्य च तत्त्व
बोधयतिस्म जिनस्य महिम्ना ॥७॥ पर्व २३।

२— यदिव्य वागियमशेषपदार्थगर्भा
भाषान्तराणि सकलानि निदर्शयन्ती ।
तत्त्वावबोध मनिशात्कुरुते बुधाना
स्याद्वादनीति विहतान्यमता वकारा ॥२४॥, पर्व, २८।

३—श्लोक ६९—७४, पर्व २३। ४—श्लोक २५७, पर्व २५।

अर्धमागधीका स्वरूप—यह प्रचलित मान्यता यही है कि समवशरण में 'मागध जाति के देव होते थे जो कि भाषान्तरकार (Interpreter) तथा ध्वनि विस्तारक (Loud speaker) का काम करते थे। जिससे तीर्थ कर का उपदेश उनके द्वारा श्रोताओं तक पहुंचता था। अतः भाषा का नाम अर्द्धमागधी पड गया था। किन्तु भगवज्जिनसेनाचार्य ऐसे प्राचीनतम प्रामाणिक आपने उसको नहीं माना है। उनके मत से "दिव्य ध्वनि (अर्धमागधी) को देवताओं द्वारा बोली गयी मानना असत् है (क्योंकि ऐसा मानने पर) अर्हत्प्रभु के गुण का लोप हो जायगा"। इतना ही नहीं वे तो स्पष्ट कहते हैं कि "वह भाषा अक्षरमयी ही होती है [क्योंकि] वर्ण समूह के बिना संसार में अर्थ का ज्ञान नहीं होता है [1]।

भगवज्जिनसेन का यह कथन अनायास ही हमें भगवान कुन्द-कुन्द के दर्शन प्राभृत' में आये जिन प्रतिमा के वर्णन की ओर ले जाता है। इसमें स्पष्ट कहा है "एक हजार आठ शुभलक्षण युक्त, चौंतीस अतिशयों से विभूषित जिनेन्द्रदेव जब तक विहार करते रहते हैं तब तक की उसी मूर्ति को 'स्थावर-प्रतिमा' कहा है [2]। इन चौंतीस अतिशयों में से देव कृत चौदह अतिशय का व्याख्यान करते हुए टीकाकार श्री श्रुतसागर सूरि ने लिखा है" अब देवों द्वारा किये गये चौदह अतिशय कहता हूं। यथा 'सर्वार्धमागधिका' भाषा। यह कौनसी भाषा है? तीर्थ कर की आधी भाषा मगध देश की भाषा होती है और आधी में सब भाषाएं होती हैं। आश्चर्य की बात तो यह है कि टीकाकार ने अपने समय में प्रचलित व्याख्या देखकर भी भाषा के देवकृतत्व को निभाने के लिए दूसरी मान्यता पर प्रकाश डालते हुए उस समय संस्कृत को प्राप्त पूज्यता प्रधानता का संकेत करते हुए लिखा है—"तो इसे देवकृत क्यों कहते हैं? क्योंकि मगध देवों के होने पर यह होती है और यह भाषा 'संस्कृत भाषा' होती है [3]।

१—'देवकृतो ध्वनिरित्यसदेतद्देवगुणस्य तथा विहतिः स्यात्।
साक्षर एव च वर्णसमूहान्नैव विनार्थगतिर्जगति स्यात् ॥ ७३ ॥'
(आदिपुराण, पर्व २३)

२—'विहरदि जाव जिणिंदो सहसट्ठ सुलक्खणेहिं संजुत्तो।
चउतीस अइसयजुदो सा पडिमा थावरा भणिया ॥३५॥"
(दर्शनप्राभृत, पृ० ३७)

३—"देवोपनीताश्चतुर्दशातिशयाः। तथा हि। सर्वार्धमागधिका भाषा। कोऽर्थः। अर्द्धं भगवद्भाषया मगधदेशभाषात्मकम्। अर्धं च सर्वभाषात्मकम्। कथमेव देवोपनीतत्वमिति चेत्। मगधदेवसन्निधाने तथा परिणामतया भाषया—संस्कृतभाषया प्रवर्तते।"
(दर्शनप्राभृत, पृ० ३८)

इस कथन से स्पष्ट है कि भगवज्जिनसेन का मत सबको मान्य था। भगवान की भाषा का रूप ही ऐसा होता था जिसमें आधे (अर्ध भाग) शब्द तथा अलंकार मागधी भाषा के होते थे और शेष अन्य जनपदीय भाषाओं के होते थे। यही कारण है कि उसे स्पष्ट रूप से अर्द्धमागधी अथवा अर्धमागधिका[1] अथवा सर्वार्धमागधी[2] भाषा कहते हैं। जहां तक इस युग के अन्तिम तीर्थंकर महावीर स्वामी का सम्बन्ध है वह वर्तमान बिहार में विपुलाचल (राजगृह) पर्वत पर कैवल्य प्राप्त हुआ था। और उनका पहिला प्रवचन श्रावण कृष्ण प्रतिपदा को वहीं हुआ था। फलतः देश काल तथा अन्य परिस्थितियों पर दृष्टि डालने से प्रतीत होता है कि सभा के श्रोताओं में यद्यपि विविध जन पदों तथा दर्शनों[4] के लोग उपस्थित थे, तथापि मगध के भी लोगों का बाहुल्य था। श्रोताओं के बहुमत के साथ साथ व्यवस्था भी सम्भवतः मागधों के हाथ में रही होगी। इतना ही नहीं उस समय का मगध संस्कृति और समृद्धि की दृष्टियों से अन्य जनपदों का अगुआ माना जाता था फलतः श्री श्रुतसागर सूरि की व्याख्या की 'अर्धमागधी' भाषा भगवान महावीर के प्रवचन की भाषा बन सकी इसमें विशेष आश्चर्य नहीं, अपितु ऐसा होना स्वाभाविक ही था।

छद्मस्थ विवेचन—शास्त्रों के उक्त विवेचन पर से निम्न निष्कर्ष निकलते हैं —
१—भगवान महावीर ने अपने समय में सुप्रचलित विविध भाषाओं में से किसी एक भाषा को पूर्ण रूप से नहीं अपनाया था। २—उनकी भाषा में मागधी के शब्द, व्याकरण तथा अलंकारों का बहुलता थी। ३—तथापि वह सर्वभाषा स्वभावकम्[5] थी। अर्थात् अन्य जनपदीय भाषाओं का सम सन्तुलित रूप से समावेश था यही कारण है कि वह 'निःशेष रूप से सबको तत्त्वज्ञान देता था। ४—विविध भाषाओं के शब्द का समावेश करने में उच्चारण, अर्थावबोधकता तथा सुन्दरता पर ही दृष्टि रखी गयी था अन्यथा वह 'विविध भाषाओं का निदर्शन' नहीं ही होता। ५—उसका रूप निश्चित करते समय उपस्थित सभ्यों की मान्यता, जनसंख्या, आदिका विचार नहीं किया गया था। किसी सम्प्रदायको प्रसन्न करने की तो प्रश्न ही नहीं उठता था। ६—बहुमत ने अपनी भाषा को दूसरों पर लादने का प्रयत्न नहीं किया था अन्यथा भाषा विशुद्ध

१—भाषा (हिन्दी) के विद्वानों द्वारा।
२—भगवज्जिनसेन। ३—श्रीश्रुतसागरसूरि।
४—भ० महावीर के प्रधान श्रोता गौतम गणधर भी जैन न थे।
५—'तत्त्वालोकन श्रीमत्सर्वभाषास्वभावकम्।
प्रणिपत्यस्तुत यद्वत् प्राणिनां क्वापि संसदि।' बृहत्स्वयम्भूस्तोत्र।
यह भाषात्मक दिव्यध्वनि का वर्णन है।

'मागधी' होती। ७—नूतन युग के प्रारम्भ के साथ-साथ लोगों ने नयी तथा व्यापक दृष्टि को अपनाया था. बद्धमूल भ्रान्त संकीर्णताओं को छोड़ दिया था यही कारण है कि श्री जिनसेनाचार्य ने उसे 'भारती' [1] नाम से कहा है।

वर्तमान राष्ट्र भाषा की समस्या—विगत पचास वर्षों में जिस प्रकार सार्वजनीन (राष्ट्र) भाषा का प्रश्न उठा तथा उसका जो समाधान किया गया उसे देखने से ही साफ हो जाता है कि ढाई हजार वर्ष पहिले वर्ते गये प्रकारों का हमें पता भी नहीं है, फलतः उनपर दृष्टि रखकर निर्णय करने का प्रश्न ही नहीं उठता। यही कारण है कि समस्या गहनतर होती गयी और निर्णय सर्वसम्मत न हो सका। एक पक्ष स्व० राष्ट्रपिता द्वारा कहे गये हिन्दुस्तानी—पक्ष का ही समर्थक रहा। उसने नाम भरके लिये भी यह न सोचा कि पू० गाँधीजी ने किन परिस्थितियों में हिन्दुस्तानी की सलाह दी थी। यदि इतना सोचा गया होता तो समझ में आता कि यतः राष्ट्रपिता भारत की स्वतन्त्रता के लिये हिन्दू (वैदिक)—मुसलिम ऐक्य को अपरिहार्य मानते थे। फलतः वे इसके लिये सादे कागज पर दस्तखत करके मुसलिम नेताओं को देने के लिये भी तैयार थे। जबकि सकीर्ण साम्प्रदायिक मनोवृत्ति का—मुसलिम बहुमत शासक अंग्रेजों के संकेत पर कल्पित कारणों से भी देशके टुकड़े करने पर आमादा था। यही कारण है कि पू० गाँधीजी ने केवल मुसलमानों को न बिचकने देने के लिये 'हिन्दुस्तानी' का सुझाव दिया था। निश्चित ही यह सुझाव देते समय भारत की विविध समुन्नत प्रान्तीय भाषाओं का ख्याल तक नहीं किया गया था। किन्तु जब हिन्दी—उर्दू के निश्चितरूप हिन्दुस्तानी में कुछ किताबें छपीं तब उसकी अस्वाभाविकता 'हाथ का कंगन' हो गयी। उसमें उच्चारण, अर्थ-संगति, सुकरता, आदि का तनिक भी ध्यान न करके साम्प्रदायिकता को अमर कर दिया गया था।

ऐसे एकांगी तथा उत्तेजना के वातावरण में साम्प्रदायिकतामय प्रतिक्रिया होना स्वाभाविक था। दूसरे वर्गने स्वाभाविकरूप से विकसित (विविध भाषाओं के शब्दयुक्त) 'हिन्दी' को संस्कृत निष्ठ बनाकर राष्ट्रभाषा के पद पर बैठाने की ठानी। हिन्दी तथा हिन्दी को संस्कृतनिष्ठ बनाने में 'हिन्दू' तथा हिन्दुत्व का मोह भी कम जोर नहीं मार रहा है। आजके वैदिक तथा अमुसलिम भारती क्षण भरको भी यह नहीं सोचते कि हमारा आदि नाम भारती था और हमारे धर्म वैदिक, जैन, बौद्धादि

१—महापुराण श्लो०, पर्व ७५। 'भारतीगी: सरस्वती।' धनञ्जय, अमरकोश दि।

२—लेखक ने अपने विचार मा० अध्यक्ष भा० विधानपरिषद् तथा मा० प्रधान मन्त्रीको भेजे थे जिनकी केवल प्राप्तिभर स्वीकार की गयी थी।

थे तथा हमारी राष्ट्रियता 'भारतीय' या भारती थी तथा होना चाहिये। हमें अन्य मुसलिम विजेताओं ने हिन्दू, हमारे देशको हिन्द तथा हमारी भाषा को हिन्दी कहा था।[1] यह शब्द व्यावर्तक (Negative) था जिसका तात्पर्य था गैर मुसलिम (वैदिक जैन बौद्धादि)। इसी प्रकार हिन्द (सिन्ध) हमारे प्रान्त का नाम था पूर्ण देशका नहीं और भाषा 'भारती' थी। इतना ही नहीं पूर्वको विस्मरण कराकर अनन्त काल तक भारतको दास बनाये रखने के इच्छुक अंग्रेजों ने इस हिन्दू मुसलिम भेदको द्वारा परिपुष्ट किया है कि हम क्षणभरके लिये नहीं सोचते कि ये मान्यताएँ भ्रान्त एवं निराधार हैं। फलतः हिन्दी के समर्थकों में भी आग्रह ने घर किया।

यद्यपि आज अंग्रेज हमारे शासक नहीं हैं व चले गये हैं तथापि उनके द्वारा स्थापित हिन्दू मुसलिम माया हमारे रोम, रोम में समायी है। इसके मोह में जन साधारण का आ जाना तो स्वाभाविक है किन्तु जब दिग्गज विद्वानों को इसमें व्यामोहित देखते हैं तो आश्चर्य होता है। पाश्चात्य विद्वानों की दयादयी हमारे विद्वानों ने भी 'हिन्दू दर्शन', 'हिन्दू संस्कृति', आदि मान्यताओं को स्वीकार कर लिया है। वे वानरी के मृत बच्चे के समान इसे चिपटाये फिरते हैं और इसे ही अपने दर्शन, संस्कृति और धर्मका नामरूप माने बैठे हैं। जिस प्रकार इस मान्यता में निहित विषने हमारे राष्ट्रिय जीवनको दूषित कर दिया है तथा इसने कितना बड़ा अपकार किया है इसकी ओर इनकी भी दृष्टि नहीं जाती। इस ओर राष्ट्र तथा राष्ट्रियता विघटन के विनाश से दुखी हैं, किन्तु उसकी मूल मान्यता को नहीं छोड़ना चाहते। हमारी चिन्ता का आधार जबतक हिन्दुत्व और इस्लाम हैं, भारत भारतीयता नहीं तबतक हमारा राष्ट्रिय जीवन विषाक्त ही रहेगा और हम विभक्त रहते हुए बारबार विनष्ट होते रहेंगे। फलतः जितनी हानि हिन्दुस्तानी के समर्थकों ने की है हिन्दी के पुजारी भी उससे कम करने नहीं जा रहे हैं, क्योंकि हिन्द हिन्दू हिन्दी ऐतिहासिक दृष्टि से अप्रामाणिक हैं तथा इनका कोई शास्त्रीय आधार भी है ही नहीं।

उभय भ्रान्ति—मेरी दृष्टि से भाषा का प्रश्न निष्ठा (लायलिटी) की समस्या है। यह सुविदित तथ्य है कि शास्त्र की संगति और व्यञ्जना मानव की चिन्ता की गति देती है। वर्तमान विश्व के सभी समुन्नत राष्ट्रों का नाम, राष्ट्रियता तथा भाषा में एकता है। यही कारण है कि तत्तत् देशों के निवासी इतर मानव एवं प्राणियों को भूल जाते हैं और देशके लिये सर्वस्व निछावर कर देते हैं। इसकी और हमारी लगभग दो सौ वर्ष का इतिहास है। न हमारी कोई एक राष्ट्रियता थी और न थी एक

१—हिन्द हिन्दू-हिन्दी का प्रयोग नामक ग्रन्थ।

राष्ट्र जिसके प्रति हमारी प्रथम आस्था होती, हमें हिन्दुत्व और इस्लाम के नाम तथा भाषा द्वारा सदैव ध्यान दिलाया गया फलतः तथोक्त धार्मिक स्वतन्त्रता आदि में ही हम सन्तुष्ट रहे और अंग्रेजी राज को रामराज मानते रहे। अन्त में धर्मभेद को राष्ट्रिय तथा सांस्कृतिक भेद मानकर देशके टुकडे टुकड़े करके भी होश मे नहीं आये हैं। यदि हिन्दी तथा हिन्दुस्तानीवाले वर्ग भारत-निष्ठ हैं तो कोई कारण नहीं कि वे एक ऐसी भाषा पर जोर दें जिसकी सर्वोपरि निष्ठा किसी एक धर्म के प्रति रही है। धर्म 'जीव उद्धार' का मार्ग है उसे अभ्युदय मे बाधक नहीं होना चाहिये। इससे भी बड़े महत्व की बात यह है कि भारत की जनपदीय मराठि-बंगला, गुजराती, तामिल, आदि भाषाओं ने मानव के ज्ञान को ही नहीं बढाया है अपितु हिन्दी हिन्दुस्तानी से काफी पहिले राष्ट्रियता का उद्बोधन किया है फलतः उनके सुपुष्ट शब्दभंडार और अर्थव्यञ्जकता उपेक्षणीय नहीं है। भूल केवल हिन्दू-मुसलमानो को मानकर किये गये देशके बंटवारे की भाँति दो भाषाओं के आधार पर देशकी भाषा को निश्चित करना उस भ्रान्ति को दुहराना है जिसके परिणाम विभाजन से भी अधिक घातक हो सकते है।

जैन मान्यता का उपयोग—यह देशका सौभाग्य था कि पंडित नेहरू, आदि की दृष्टि राष्ट्रमुद्रा को खोजते समय ब्रिटिश तथा मुस्लिम कालो में न उलझी अन्यथा वह भी मतभेदका अखाडा बन जाती। उनकी दृष्टि उस कालतक गयी जब भ्रान्त हिन्दू मुस्लिम समस्या थी ही नहीं। यह भी संतोष की बात है कि देशको मुसलिम विजय के पहिले का नाम भारत प्राप्त हो सका है। इसी प्रकार राष्ट्रभाषा के नाम तथा रूपकी खोज के लिये यदि इसी लिखित अर्द्धमागधी की परम्परा पर दृष्टि डाली जाय तो सतरसौ वर्ष की भ्रान्ति से छुट्टी मिलने मे विलम्ब न लगेगा। सहज ही हम अर्द्धमागधी के निर्मापक सात प्रकारो द्वारा अपनी 'भारती' भाषा को साकार कर सकेंगे। इस प्रकार से एक व्यापक भाषा बनाने का प्रयोग इस युगको, क्या हमारे देश के लिये भी नया नहीं है। पू० राष्ट्रपिता ने आदर्श (एक) गुजराती का आविर्भाव भी इसी प्रकार किया था और 'कच्छी, सौराष्ट्री, भारुची, आदि भाषाओं की सत्ता को रखते हुए भी अखण्ड गुजराती को भारत की समुन्नत भाषा बनने का अवसर दिया था। उक्त सात बातों पर दृष्टि रखते हुए भारत की समस्त भाषाओं के शब्द भंडार तथा अलंकार, व्याकरण नियमों मे से चयन किया जाय और इस प्रकार प्राप्त शब्दों तथा नियमों को 'भारती' का मूलाधार मान लिया जाय। भाषाको भारती मानते ही हिन्दू-मुसलिम भेदका अन्तिम किला ढह जायगा। जर्मन—जर्मनी, फ्रेन्च—फ्रान्स, इंगलिका—इंगलैण्ड, आदि के समान भारती और भारत इस देशके

खडा हो सकेगा। उसका धर्म या जाति उस भूमि के प्रति विश्वासघात न करने देगे जिसकी मिट्टी से उसका तन, मन, धन बना है। वह स्वयं कह उठेगा 'यदि मैं भारती भाषाओ, वेशभूषाओं रस्मरिवाजो मे घृणा करता या वचना हू तो मेरी भारत-निष्ठा की घोषणा खोखली है। मुझे धर्म, जाति का विचार किये बिना प्रत्येक भारती भावको अपनाना चाहिये।

जैन साहित्य में लंका, रत्नद्वीप और सिंहल।

[ले० श्रीयुत बा० कामता प्रसाद जैन, D L. M R. A S]

जैन ग्रंथों में अनेक ऐसे देशों और नगरों का वर्णन मिलता है जिनका पता आधुनिक भारत में लगाना साहित्य के लिये महत्वपूर्ण है। लंका रत्नद्वीप और सिंहल ऐसे क्षेत्र हैं जिन पर विद्वानों ने अधिक लिखा है, परन्तु जैन साहित्य में उनकी स्थिति क्या है? इसको शायद ही किसी विद्वान् ने टटोला है। अतः प्रस्तुत लेख में इस विषय पर प्रकाश डालना अभीष्ट है।

लंका

आजकल अधिकांश लोग भारत से दक्षिण की ओर समुद्र में स्थित सीलोन (Ceylon) को ही लंका मानते हैं[1]। किन्तु कुछ विद्वज्जन इससे सहमत नहीं हैं। वह सीलोन को रावण की लंका *नहीं मानते प्रत्युत सीलोन को सिंहल अथवा रत्नद्वीप समझते हैं। रावण की लंका के विषय में* विद्वानों में मतभेद है। डॉ० किबे उसे मध्य भारत में अमरकण्टक पर्वत की शिखिर पर अवस्थित बताते हैं और स्व० डॉ० जैकोबी उसे आसाम में ख्याल करते थे। एक अन्य विद्वान् रावण की लंका को मालद्वीप (Maldiva Islands) में घटित करते हैं[2]। किन्तु जैन साहित्य में लंका का जो वर्णन मिलता है उसमें यह सिद्ध नहीं होता कि लंका अमरकण्टक के शिखिर पर या आसाम में अथवा मालद्वीप में कहीं पर अवस्थित थी।

लंका का प्राचीन उल्लेख 'पउमचरिय' और 'पद्मपुराण' में मिलता है। श्वेताम्बरीय 'निशिथ चूर्णि' में भी लंका का उल्लेख है। 'वसुदेवहिण्डि' ग्रन्थ में लिखा है कि जटायु को मारकर रावण किष्किन्धा गिरि को पार करके लंका पहुँचा था। 'त्रिषष्टि शलाका पुरुष चरित्र' में बताया है कि *लवण समुद्र के मध्य राक्षसद्वीप नामक एक द्वीप था, जिसके मध्यभाग में त्रिकूट पर्वत स्थित था।* इस पर्वत की शिखिर पर लंका नगरी अवस्थित थी[3]। 'पउमचरिय' और 'पद्मपुराण' में भी यही बात कही गई है। वहाँ लिखा है कि द्वितीय तीर्थंकर अजितनाथ जी के समवशरण में विजयार्द्ध की दक्षिण श्रेणी से राज्यभ्रष्ट होकर मेघवाहन नामक राजा पहुँचा था। समवशरण में उसकी भेंट राक्षस देवों के इन्द्र भीम और सुभीम से हुई, जिन्होंने प्रसन्न होकर उसे लवण समुद्र के अनेक अन्तरद्वीपों में से एक द्वीप दिया जो राक्षसद्वीप कहलाता था। इस द्वीप के मध्य में त्रिकूटाचल पर्वत था, जिसकी तलहटी में लंका नगर बसा हुआ था। लंका दक्षिण दिशा का तिलकरूप नगर था। मेघवाहन वहाँ राज्याधिकारी हुआ था और पाताल लंका पर भी शासन करता था।

1—नन्दूलाल दे ज्यागराफिकल डिक्शनरी ऑव ऐंशियेंट इंडिया पृ० ११३

2—इंडियन हिस्टारीकल-क्वार्टर्ली भा० २ पृ १४५।

3—श्रीजगदीशचन्द्र जैन, लाइफ इन ऐंशियेन्ट इण्डिया पृ० ३०९

वह धरनी के बीच में थी और अलकारोदयपुर उसकी राजधानी थी. लका पहुँचने के लिये मेघवाहन को श्याम वर्ण का लवण समुद्र पार करना पड़ा था¹। इस कथन से स्पष्ट है कि लका भारत से दक्षिण दिशा में लवण समुद्र के दूसरे छोर पर अवस्थित थी और उसतक पहुँचने के लिये पाताल लका को पार करना होता था। अमरकण्टक पर्वत पर अथवा आसाम में लंका मानने से लवण समुद्र नहीं मिल सकता और वह भारत से दक्षिण में एक स्वतत्र द्वीप हो सकता है। मलयद्वीप (Malaliv) इस समय एक द्वीप अवश्य है, परतु एक समय वह दक्षिणभारत के मलय पर्वत से असम्बद्ध था। अब यह पृथ्वी जो मलयद्वीप से अबीसिनिया तक विस्तृत थी, भारतीय महासागर के गर्भ में विलीन हो गई है। इस कारण मलयद्वीप को राक्षस द्वीप और लका नहीं माना जा सकता। भारतीय साहित्य में उसका पृथक् नाम मलयद्वीप मिलता है। अत. हमें राक्षस-द्वीप का पता कहीं अन्यत्र लगाना उचित है।

'भ० पार्श्वनाथ' का जीवन चरित्र लिखते हुए हमने इस विषय पर कुछ प्रकाश डाला था और उपरान्त जो भौगोलिक वर्णन जैन पुराणों में मिलता है, उससे भी उसका समर्थन होता है। यूनान देश के विद्वानो ने मिश्र देश के सिकन्दरिया (Alexandria) नगर के आसपास के प्रदेश का उल्लेख रॅकोटिस (Rhacotis) नाम से किया था। यूनानी भूगोलवेत्ता केडरेनस (Cedrenus) उसी स्थान को 'रॅखास्तेन' (Rhakhasten) बतलाता है। यूरोपीय विद्वानों ने इस 'राखास्तेन' प्रदेश को ही राक्षस स्थान माना है²। भूगोलवेत्ता प्लिनी (Pliny) ने लिखा है कि मेसफीस (Mesphees) नामक मिश्र के एक प्राचीन राजा ने वहा दो चोकोन स्तम (Obeliks) बनवाये थे। वहा का त्रिशृङ्ग पर्वत जैन शास्त्रो का त्रिकूटाचल पर्वत हो सकता है। मिश्र का यह भाग अपने वनो के कारण अटवी या अरण्य कहलाता था। लका में भी वनो का उल्लेख है। लका के नीचे पाताल लका थी, जिसमे पुष्पकवन, महाकमलवन तथा मणिकान्त पर्वत अवस्थित थे। मिश्र के नीचे अबीसीनिया और इथ्यूपिया नामक प्रदेश पाताल लका हो सकती है, जिसके पश्चात् समुद्र आता है। इथ्यूपिया कमलो के वन द्युतिमान पर्वत भी मारे और नील नदी के सगम के पास मिलते है। इथ्यूपिया में एक समय 'जिम्नासूफिस्ट, (Gymnosophists=जैन श्रमण) विचरा करते थे, यह भी यूनानी लेखक बताते है³। राम-रावण युद्ध मे जिन स्थानों का उल्लेख है⁴, वे भी मिश्र मे लका की स्थिति मानने से मार्ग मे मिल जाते है। मिश्र आज भी अपने सोने के लिए प्रसिद्ध है। अब देखने की आवश्यकता है कि राक्षस वश के राजाओ की वशावली

१—पद्मपुराण, पृ० ५२—५६०

2—Asiatick Researches Vol III, pp 100—189.

3—Asiatick Res, III, 106

४—विशेष के लिये हमारी पुस्तक "भ० पार्श्वनाथ पृ० १५०—२०२ देखें।

में जिन राजाओं के नाम हैं उनमें कोई नाम रामचन्द्र के राजाओं के अनुसार है या नहीं ? मिश्र के प्राचीन राजाओं में रेमसेस (Rameses) नामक राजा का उल्लेख है और कोई विद्वान् उनको रामचन्द्र जी से अभिन्न बताते हैं। किन्तु मिश्र का इतिहास देखने से ज्ञात होता है कि रेमसेस प्रथम ने ईस्वी सन् से १४६२ वर्षों पहले राज्याधिकार प्राप्त किया। अतः मिश्रदेशीय रामसेस अयोध्या नरेश रामचन्द्र नहीं हो सकते। उनके नाम की स्मृति में मिश्र के १६ वें राजवंश के आदि राजा का नाम रामसेस रक्खा गया होना संभव है। मिश्र में मानवों के शासनाधिकारी होने के पहले अर्थात् ५३ × × वर्ष ई० पूर्व के पहले देववंश का राज्याधिकारी लिखा है। हो सकता है कि विद्याधर देवों की सदृशता करके यह वंश 'देव' कहलाया हो। राक्षस देवों इन्द्रों ने ही मेघवाहन को राक्षस द्वीप का शासक बनाया था। इस वंश में सूर्य, शनि, मनस आदि नामक राजा हुए थे। उनके नाम प्रायः सूर्य के पर्यायवाची होते थे। 'पद्मपुराण' वर्णित विद्याधर राजा मेघवाहन रामायण काल से भी पहले के हैं। उनके वंशजों में भानुरक्ष, सुदेव, मनोरम आदि नामक राजाओं का उल्लेख है। हो सकता है कि सूर्य (= भानुरक्ष) शनि (सुदेव), मनस (मनोह्लाद) एक रहे हों। किन्तु इस विषय में कुछ भी निश्चयात्मक बतलाया नहीं कहा जा सकता, जबतक कि मिश्र के प्राचीन देववंश का पूर्ण विवरण ज्ञात न हो। इतना स्पष्ट है कि मानवों से पहले मिश्र में 'देवों' का शासन माना जाता था[1]।

पहले मिश्र देश का नाम भी ईजिप्ट (Egypt) था। एक पुराने जमाने में मिश्र देश में निनिवे, सिरीय असिरीय, बाबिलनीय, काल्डीय, मिनोय, पार्थीय और भारतीय जातियों का मिलन और मिश्रण हुआ था, इस मिश्रण के कारण ही इस देश के लोगों को मिश्र कहने लगे थे। इससे पहले यह देश "आगुप्त" अर्थात् "सुरक्षित" रूप में प्रख्यात था। आगुप्त का ही अपभ्रंश रूप ईजिप्ट है। इस देश में मानवों के आदि राजा मेना (मनु) ने राज्य स्थापित करने के लिये उपाय किये थे, जिनसे यह देश सुरक्षित हो गया और आगुप्त कहलाया[2]। जब इस पर देव लोगों का शासन था, तब यह क्या कहलाता था, इसका कुछ पता नहीं। हो सकता है, तब यह राक्षस्थान (राक्षसस्थान) कहलाता होगा, जैसे कि यूनानी बताते हैं। वास्तव में लंका और राक्षस स्थान की स्थिति का ठीक पता लगाने के लिये गहन अध्ययन की आवश्यकता है।

जहाँ भी लंका रही हो, वह थी एक महान् नगरी। जैन शास्त्र उसे उत्तुंग राजमहलों और मनोभिराम जिन मंदिरों से अलंकृत बताते हैं। लंका के जिनालय में श्री शान्तिनाथ तीर्थंकर

1—मिश्र के राजवंशों के परिचय के लिये 'हिन्दी विश्वकोष' भा० १७ पृ० १०१ पर मिस्र शब्द देखो।

2—हिन्दी विश्वकोष, भा० १७ पृ० १०१

की मनोज्ञ प्रतिमा थी—रावण उस प्रतिमा के समक्ष बैठकर मंत्र साधना करता था[1]। इससे स्पष्ट है कि राक्षसद्वीप और लंका में जैनधर्म का प्रचार प्राचीन काल से था। विद्याधरवंश के राक्षस राजाओं ने आदि में वहाँ शासन किया था। उनमें मेघवाहन, महारक्ष, अमररक्ष, भानुरक्ष, आदित्यगत आदि अनेक राजाओं ने अपने अन्तिम जीवन में जैन मुनिपद धारण किया था। अतः स्पष्ट है कि जैनधर्म का प्राबल्य इस देश में दीर्घकाल तक रहा था। जैन कथा ग्रन्थों के वर्णन से उसका आभास मिलता है।

लंका के प्रसिद्ध नरेश रावण भी जिनेन्द्रभक्त थे। वह विद्याधरवंश का नर-रत्न था। कैलाश, पर्वत पर उसने विद्यासिद्धि के लिये मंत्रसाधना की थी, जिस पर धरणेन्द्र ने आकर उनको बहुरूपिणी आदि विद्याएँ दी थीं[2]। उस विद्या के बल से वह दशग्रीव दिखता था। रावण सीताजी के रूप पर मुग्ध होकर उनका अपहरण कर ले गया, परंतु फिर भी वह धर्म से सर्वथा च्युत नहीं हुआ। उसने कोई बलात्कार नहीं किया। रावण निरन्तर धर्माराधना किया करता था। अपनी पट्टरानी मंदोदरी की धर्मेच्छा की पूर्ति करने के लिये उन्होंने इन्द्र की आराधना करके एक रत्न-प्रतिमा प्राप्त की थी। मन्दोदरी उस प्रतिमा की त्रिकाल पूजा किया करती थी। जब रावण की पराजय पर लंका का राजभंग हुआ तो उस समय उस रत्न-प्रतिमा का प्रवाह सागर में कर दिया गया था। उपरान्त काल में कन्नड देश के कल्याण नगर के नरेश शंकर को इस मूर्ति का पता चला। उन्होंने पद्मावती देवी की आराधना करके उस मूर्ति का समुद्र की गर्त से प्राप्त किया और अपने नगर में लाकर स्थापित किया। यह प्रतिमा माणिक्य देव के नाम से प्रसिद्ध हुई थी[3]।

श्रीपुर अन्तरीक्ष पार्श्वनाथ की प्रतिमा के विषय में कथानक है कि मालि-सुमालि नामक विद्याधर रावण दशग्रीव की लंका को गये तो वहां उन्होंने विद्याबल से वह प्रतिमा बालु से तैयार की थी। वहां से लाते हुये वह प्रतिमा सिरिपुर में अन्तरीक्ष में ठहर गई। तबसे वह वहां अतिशय संयुक्त पूजी जा रही है[4]।

सिरिपुर के पास तेरपुर की गुफाओं में भ० पार्श्वनाथ की प्रतिमा भी लंका से लाकर विराजमान की गई थी। तेरपुर-नरेश नील महानील के मित्र अमितवेग ने वह प्रतिमा लंका से लाकर वहां स्थापित की थी[5]। 'करकंडु चरित्र' में लिखा है कि अमितवेग और सुवेग को लंका पहुँचने

१—पद्मपुराण देखो—इन स्थानों की शान्तिनाथ प्रतिमा प्रसिद्ध थी "किष्किन्धायां लंकायां पातालंलंकायां त्रिकूटगिरौ श्रीशान्तिनाथ."—विविधतीर्थकल्प

२—अष्टापदगिरिकल्प—विविधतीर्थकल्प, पृ० ९३

३—कोल्लपाकमाणिकादेवतीर्थकल्प—वि० ती०, पृ० १०१

४—श्रीपुरअन्तरिक्ष पार्श्वनाथकल्प-वि० ती०, पृ० १०२

५—हरिषेण बृहत्कथाकोष, पृ० २००

के लिये मलयदेश को पार करना पड़ा था। उस समय लंका में रावण का एक वंशज शासनाधिकारी था। उसने मलयदेश के अन्तर्गत पूदि नामक स्थान पर एक जिनमंदिर बनवाया था[1]। सारांशतः लंका में जैनधर्म का प्राबल्य इन कथाओं से स्पष्ट है। मालूम होता है कि जब वहां पर जैनों का प्रभाव क्षीण होने लगा तब वहां की प्रसिद्ध २ जिन प्रतिमाएँ भारत ले आई गयीं।

भ० पार्श्वनाथ के समय में पुण्ड्र देश के ताम्रलिप्ति नगर में सागरदत्त नामका सेठ रहता था। वह सात बार समुद्र यात्रा में असफल हुआ था। आठवीं बार वह लंका के लिये रवाना हुआ परन्तु तूफान ने उसे लंका न पहुंचने दिया। वह रत्नद्वीप पहुँच गया और रत्नकोष लेकर घर लौटते समय मार्ग में मल्लाहों ने उसे समुद्र में फेंक दिया। वह तैरकर पाटलीपथ नगर पहुंचा। वहां उसके श्वसुर भी मिल गये, जिनके साथ वह घर लौट आया[2]। उसी समय नागपुरी के बंधुदत्त सेठ भी लंका के लिए व्यापार हेतु रवाना हुये थे। समुद्र में उनका जहाज फट गया। वह एक तख्ता का सहारा लेकर रत्नद्वीप पहुँचा। वहां उसने एक रत्नमयी चैत्यालय देखा जिसमें अर्हत् नमि की रत्न प्रतिमा विराजमान थी। वहां के जैन साधुओं ने बंधुदत्त को जैनधर्म का श्रद्धालु बनाया था। विद्याधर चित्रांगद ने बंधुदत्त को उसके घर पहुँचा दिया था[3]। इन उल्लेखों से स्पष्ट है कि भारत के व्यापारी जन लंका से व्यापार करने जहाज लेकर जाया करते थे—उनको समुद्र पार करना पड़ता था। लंका जाते हुए मार्ग में रत्नद्वीप पड़ता था। यह बात विद्वानों से छिपी नहीं है कि सिंहलदेश से भारत का व्यापार एक अति प्राचीन काल से चालू था।

रत्नद्वीप

लंका के पास ही रत्नद्वीप अवस्थित था। 'पद्मपुराण' में लिखा है कि राक्षस वंश के राजा अमररक्ष के दस पुत्र थे, जिन्होंने अपने अपने नामके नगर और देश बसाये थे। उनमें रत्नद्वीप भी था[4]। इस रत्नद्वीप में मनुजोदय पर्वत था[5] और वह क्षार समुद्र के अंत में अवस्थित था[6]। जैनी व्यापारी गण वहां अपने जहाज ले जाया करते थे और व्यापार करते थे। पद्मखंडपुर के सेठ सुमित्र जब व्यापार के लिए रत्नद्वीप जाने लगे थे, तब अपने बहुमूल्य रत्न सिंहपुर के राज पुरोहित श्रीभूति के पास रख गये थे। श्रीभूति अपने सत्यघोष के कारण 'सत्यघोष' नाम से प्रसिद्ध थे किन्तु इन रत्नों के कारण वह अपने सत्यधर्म से च्युत हुआ था[7]। रत्नद्वीप का 'सहस्रकूट'

१—करकंडुचरिउ, ५ (पृ० ४६—४७)

२—लाइफ ऐंड स्टोरीज ऑव पार्श्वनाथ, पृ० १६९

३—लाइफ ऐंड स्टोरीज ऑव पार्श्वनाथ, पृ० १७१

४—पद्मपुराण पृ० ५५३—६६०

५—उत्तरपुराण, ७१।३०१

६—'क्षारसमुद्रान्ते रत्नद्वीप—मनोहरे।'—बृहत्कथाकोष, पृ० ७४

७—बृहत्कथाकोष पृ० १६१

चैत्यालय प्रसिद्ध था। भारत से जैनी उसकी वन्दना करने जाया करते थे। 'कृपण जगावन चरित्र' में उल्लेख है कि कुंडलपुर के सेठ सोमदत्त की दो पत्नियां थीं, जो निरन्तर विमान में बैठकर रत्नद्वीप के मरलकूट जिनालय की वन्दना करने जाया करती थीं[1]। इस प्रकार इन कथाओं से स्पष्ट है कि एक समय रत्नद्वीप में जैनधर्म का प्राबल्य था—उसकी गणना अतिशय पूर्ण क्षेत्र के रूप में की जाती थी।

सिंहलद्वीप

सिंहलद्वीप आजकल की लंका (Ceylon) है। जैन शास्त्रों में सिंहलद्वीप की गणना अनार्य देशों में की गई है[2]। भरत चक्रवर्ती ने सिंहल विजय किया था[3] और सम्भवतः उन्होंने ही यहाँ आर्य संस्कृति का बीज बोया था। प्राचीनकाल से भारत के व्यापारी जलयानों द्वारा स्वर्णद्वीप आदि देशों के साथ व्यापार करने समुद्र मार्ग से जाया करते थे, तब वे मध्य मार्ग में विश्राम लेने के लिये सिंहलद्वीप में लंगर डालकर ठहरते थे[4]। सिंहल के प्राचीन इतिहास से भी पता चलता है कि आर्यों के पहुँचने के पहले वहां अनार्य लोग रहते थे। उपरान्त काल में जम्बूद्वीप (भारतवर्ष) से अनेक जातियों के आर्य वहां आकर बसे थे। कहते हैं कि सबसे पहले भारत के बंग प्रदेश में असुर जाति के वर रावन नामक सरदार असुर, यक्ष, नाग और नर जातियों के मानवों को लेकर सिंहल पहुंचे थे और वहां आबाद हुए थे। रावण उनके पश्चात् सिंहल में राज्याधिकारी हुआ था। इसके दीर्घकाल पश्चात् भ० महावीर के समय के लगभग उड़ीसा के सिंहपुर से राजकुमार विजय सिंहल पहुँचे थे और वहां के शासनाधिकारी हुए थे। सन् २३६ ई० पूर्व से वहाँ बौद्ध धर्म का प्रचार हो गया था। जैन शास्त्रों में भी सिंहल में सुर, किन्नर, खेचर लोगों का आवास लिखा मिलता है। यह सब विद्याधर-मानव थे। भारतीय आर्य सिंहल में जाकर जब बसे तो इनसे घुलमिल गये।

जैन शास्त्रों में सिंहलद्वीप का वर्णन अनेक प्रकार से मिलता है। 'करकंडु चरित्र' में लिखा है कि करकंडु नरेश सिंहलद्वीप गये थे और वहां की राजकुमारी के साथ उनका विवाह हुआ था। वहां सुर-खेचर-किन्नर विचरते थे और स्त्रियां साक्षात् रति रूप थीं। सिंहल से जलपोतों में बैठकर

१—'गगनगामिनी विद्याजोर, कमलालच्छी चली पुनि भोर।
रत्नद्वीप जिनमंदिर ओर, रत्नराशि देखी तिहिं ठौर ॥१३०॥'

२—'ये सिंहलाबर्बर का. किराता ' ' ऽनार्यवर्गेनिपतन्ति सर्वे।'

—वराङ्गचरिते, पृ० ६६

३—आवश्यकचूर्णि, पृ० १९१ एवं आदिपुराण

४—लाइफ इन ऐंशियेन्ट इण्डिया, पृ० ३२४

करके वापस भारत आये थे[1]। 'श्री दशभक्त्यादि महाशास्त्र में भी सिंहलद्वीप की स्त्रियों के सौन्दर्य का वर्णन मिलता है। उन्हें पद्मिनी लिखा है[2]। भारतीय राजा लोग सिंहल की राजकुमारियों से विवाह करने को लालायित रहते थे। नारायण कृष्ण के समय में सिंहलद्वीप के राजा श्लक्ष्णरोम की कन्या लक्ष्मणा रूपवती थी। कृष्ण जी लक्ष्मणा को हरलाये थे और अपनी रानी बनाया था[3]। जैन व्यापारी सिंहलद्वीप से व्यापार व्यापार करते थे। मालवा के जैन सेठ सूरचंद ने वहां जाकर रत्नों का व्यापार किया था और लक्ष्मीपति होकर लौटे थे[4]। उज्जैन के राजा गगनचन्द्र की मित्रता सिंहलनरेश गगनादित्य से थी। सिंहलनरेश लकादिप के समान थे और उज्जैन भी आये थे। सिंहलनरेश के पुत्र विजय ने राज्य करके जैनमुनि के व्रत ग्रहण किये थे[5]।

इस प्रकार हम देखते हैं कि सिंहलद्वीप अथवा लंका (Ceylon) में जैनधर्म का प्रभाव एक अतीव प्राचीन काल से चला आ रहा था। स्वयं बौद्धों के प्राचीन ग्रंथ 'महावंश' से स्पष्ट है कि ईस्वी पूर्व चौथी शताब्दि में सिंहलनरेश पाण्डुकाभय ने वहां के राजनगर अनुराधापुर में एक जैनमंदिर और जैनमठ बनवाया था, जिसमें गिरि नामक जैन मुनि रहा करते थे। ईस्वी पूर्व चौथी शताब्दि में सिंहलनरेश का ध्यान जैनधर्म की ओर गया और उन्होंने जिन मंदिर बनवाया, इसका अर्थ यही है कि जैनधर्म ईस्वी सन् से पहले ४०० वर्ष से भी अधिक काल पूर्व समय में सिंहल पहुँच चुका था, जैसा कि जैनशास्त्र बताते हैं। पाण्डुकाभय नरेश का बनवाया हुआ यह मंदिर उनके पश्चात् इक्कीस (२१) राजाओं के शासनकाल तक विद्यमान रहा था, किन्तु ई० पूर्व ३८ में सिंहलनरेश वट्टगामिनी ने उनको नष्ट करके उनके स्थान पर बौद्ध विहार बनवाया था[6]। फिर भी जैनधर्म का प्रभाव वहां मध्यकाल तक बना रहा था। मध्यकाल में मुनि यशःकीर्ति इतने प्रभावशाली हुये थे कि तत्कालीन सिंहलनरेश ने उनके पादपद्मों की अर्चा की थी। मुनि यशःकीर्ति सिंहल गये प्रतीत होते हैं। उन्होंने वहाँ लुप्त होते हुए जैनधर्म का कुछ

१—गउसिंघल[illegible]विहाणित्रसमाणु, करकडुणाहिडयरण [illegible]।
जाहं पाण्डलिल्लहमणु हरंति सुरलयाकिरभर नहिं रमंति।
गयजालहं महिलउ जहिं चलंति थियरुवे रइरउर विजलंति।' ७१४—इत्यादि

२—द्वीपसिंहलनाम्नि सागरतटे सद्वृत्तमुक्ताफला
शीला निर्मलपद्मरागमणयारत्नानि समानि च (?)।
यद्देशाद्भवविश्ववामनयना श्रपद्मिनी जा[illegible]ना
राजन्त महिपा सदागतमताचारास्तदुत्पत्तिका ।'—प्रशस्तिसंग्रह पृ० १६४

३—उत्तरपुराण ७१। २—२४

४—बृहद्कथाकोष, पृ० ७६

५—बृहद्कथाकोष पृ० ८

६—इण्डियन एन्टि क्वेरी सक्षिप्त जैनइतिहास, पृ० ६८

काल के लिये चमका दिया था[1]। किन्तु आज सिंहल में जैनधर्म का कोई चिन्ह शेष नहीं है। हमारे आचार्यों में संघ-विस्तार की भावना ही विलुप्त हो गई और फिर आचार्य परम्परा का ही अभाव हो गया।

इस प्रकार जैन साहित्य में लंका, रत्नद्वीप और सिंहल की स्थिति है। वे स्वतंत्र द्वीप होते हुए भी एक दूसरे से सम्बद्ध थे और एक ही राष्ट्र के आधीन थे। जैनधर्म उनमें फैला हुआ था, बल्कि जैनों ने ही उनका अनार्यत्व दूर किया था और उन्हें सुसंस्कृत बनाया था।

१—जैनशिला लेख संग्रह (मा॰ ग्र॰) पृ॰ ११३

महोपाध्याय सहजकीर्ति और उनके ग्रन्थ

[ले०—श्रीयुत अगरचन्द नाहटा, बीकानेर]

सत्रहवीं शताब्दी भारत का स्वर्ण युग कहलाता है। मुसलमानी साम्राज्य से त्रसित जनता ने सम्राट् अकबर के समय पुनः एकबार शांति का अनुभव किया। अतः साहित्य की भी इस समय बहुत अभिवृद्धि हुई। जैन मुनियों में पचासों विद्वानों एवं कवियों ने साहित्य के भंडार को भरा, जिनमें महोपाध्याय सहजकीर्ति का परिचय प्रस्तुत लेख में कराया जा रहा है। प्रस्तुत कवि की विद्वत्ता का सर्व प्रथम परिचय नाम शेष हुए स्व० कलाप्रेमी एवं अप्रतिम संग्राहक पूर्णचन्द्र जी नाहर का जैसलमेर जैन लेख संग्रह के प्रकाशन से हुआ था। उस ग्रन्थ के पृ० १६० ६६ में कविवर सहजकीर्ति की एक महत्वपूर्ण रचना शतदल पद्म यंत्र प्रकाशित करते हुए नाहर जी ने लिखा था —

"यह शतदल पद्म यंत्र की प्रशस्ति अपूर्व है। अद्यावधि मेरे देखने में जितने प्रशस्ति शिलालेखादि आये हैं उनमें अलंकार शास्त्र का ऐसा नमूना नहीं मिला है। पाठकों को चित्र से अच्छी तरह ज्ञात हो जायगा कि यह शतदल पद्म यंत्र जो बीच में खुदा हुआ है उसकी सौ पंखुरियों में पचीस श्लोकों के सौ चरण हैं और केन्द्र में "म" का अक्षर है, यही इन सब चरणों के अन्त का अक्षर है। शब्दों के आदि अक्षर लेकर पद बनाना उतना कठिन नहीं है जितना अन्त का अक्षर मिलाना कष्ट साध्य है।

तदनन्तर युगप्रधान जिनचन्द्रसूरि के पृ० २०६-७ में हमने आपका यथा ज्ञात परिचय प्रकाशित किया था। इधर में आपकी अन्य रचनायें भी प्राप्त हुई हैं अतः यहाँ स्वतंत्र रूप से प्रकाश डाला जा रहा है।

कवि का जन्म एवं दीक्षा

कवि के जन्मस्थान, संवत् एवं वंश आदि के सम्बन्ध में कोई साधन उपलब्ध नहीं है, अतः प्राप्त साधनों से ही अनुमानित करना पड़ेगा। कवि की प्राप्त रचनाओं में सुदर्शन चौपई सं० १६६१ (६४) में रचित सब प्रथम है एवं यु० जिनचन्द्र सूरि के प्रदत्त दीक्षा की नामान्त पद सूची पर विचार करने से कवि का जन्म सं० १६४० से ४५ के लगभग व दीक्षा सं० १६४९-५० में हुई ज्ञात होती है। आपने बाल्यावस्था में दीक्षा ग्रहण कर गुरुश्री के पास विद्याध्ययन किया व थोड़े समय में ही विद्वत्ता प्राप्त कर ली।

गणि, वाचक व उपाध्याय पद

आपकी विद्वत्ता एवं कवि प्रतिभा से आकर्षित होकर सम्भवतः सं० १६७१ में जिनसिंहसूरिजी ने गणि पद दिया था क्योंकि सं० १६७१ में रचित गौतम कुलक वृत्ति में गणि पद का उल्लेख पाया

जाता है। तदनन्तर जिनराजसूरिजी ने स० १६७४ से ७६ के मध्य मे वाचक पद एव १६६० के करीब उपाध्याय पद प्रदान किया प्रतीत होता है।

महोपाध्याय पद के लिये खरतरगच्छ मे यह नियम है कि उपाध्यायो मे जो सबसे वृद्ध (उपाध्याय पद की पर्याय की अपेक्षा) होता है उसे महोपाध्याय पद से सम्बोधित किया जाता है।

तदनुसार आप कब महोपाध्याय से सुशोभित हुए, पता नहीं पर परवर्ती वश वृक्षो मे आपको महोपाध्याय पद लिखा होने से आपको शेष समय मे यह पद मिला अवश्य था।

गुरु परम्परा

अपनी कृतियो मे आपने गुरु परम्परा विस्तार से दी है तदनुसार वशवृक्ष इस प्रकार बनता है—

१ श्री जिनकुशलसूरि (देखें हमारा "जिनकुशलसूरि" ग्रन्थ)

२ उपा० विनयप्रभ ,, ,,

३ उ० विजयतिलक

४ वा० क्षेमकीर्त्ति (गौड पार्श्वनाथ के सानिध्य से आपने गच्छ की वृद्धि की आपके शिष्यो में १२ उपाध्याय व ३६ वाचक पदारूढ़ हुए)

५ वा० क्षेमहस

६ वा० होम ध्वज

७ उ० क्षेमराज[1], शिवसु दर[2], कनकतिलक[3], दयातिलक

८ वा० लक्ष्मी[4]विनय

९ वा० महिमरग, वा० रत्नसार

१—आप बहुत अच्छे विद्वान कवि थे। सस्कृत एव लोकभाषा मे रचित आपकी बीस रचनाये हमे प्राप्त हुई हैं। आपका उपदेश सप्ततिका नामक प्राकृत ग्रन्थ वृत्ति के साथ (स० १५४७ हिसार) जैनधर्म प्रचारक सभा, भावनगर से प्रकाशित हो चुका है। उक्त मूल ग्रन्थ का गुजराती विवेचन भी उक्त सभा से प्रकाशित है। लोकभाषा की रचनाओ मे मडपाचल चैत्य परिपाटी जैनयुग वर्ष ४ पृ० ३३२ मे प्रकाशित हो चुकी है।

२—आपके रचित (१) लुपकमतनिर्लोडन रास (स० १५९५ गा० ३८) व (२) गौतमपृच्छा-बालावबोध (स० १५६६ खीमसर) हमारे सग्रह मे है।

३—आपने स० १६०६ दीवाली को बीकानेर मे क्रिया उद्धार किया, जिसका नियमपत्र हमारे सग्रह मे है।

४—इन्होने पूर्व देश मे विहार कर जनता को प्रतिबोध दिया था। सहजकीर्त्ति की प्रथम रचना सुदर्शन श्रेष्ठि रास की प्रशस्ति मे लिखा है--

"पूरब देस विहार करी जिणि, निज बलइ रे, प्रतिबोध्या जनवृदा ४२७

१० वा० रत्नहर्ष, वा० हेमनन्दन[5]

११ उ० श्रीसार[6] महो० सहजकीर्ति[7]

कलकत्ते के बद्रीदास जी के संग्रहालय में जयसार रचित श्रेणिक चौपई पत्र बत्तीस उपलब्ध है जिसकी प्रशस्ति के अनुसार सहजकीर्ति शि० पुण्यसार शि० कनकमाणिक्य, शि० रत्नशेखर, शि० वीर कुंवर, शि० हेमराज शि० युक्तिसेन के शिष्य थे। सं० १६८२ फा० सु० ७ जैसलमेर में उक्त चौपई रचित है। परवर्त्ती फुटकर पत्रों में आपका संस्कृत यश वृन्द उपलब्ध है—यहाँ लेख विस्तार भय से केवल सहजकीर्ति जी के साथ ४ शिष्यों का ही नाम निर्देश कर दिया जाता है।

(१) वा० आणन्द हर्ष　　(२) वा० देवराज

(३) वा० सहजहर्ष　　(४) वा० श्रीधर

इनकी परम्परा २० वीं शती के प्रारंभ तक चली प्रतीत होती है।

स्वर्गवास

आपकी अन्तिम रचना सं० १७०४ जैसलमेर में रचित प्रतिक्रमण बालावबोध है अतः उसके पश्चात् शीघ्र ही स्वर्गवास हो जाना संभव है।

साहित्य

सं० १६६१ से सं० १७०४ तक लगभग ४०-४५ वर्ष आपकी साहित्योपासना का समय है। आपकी संस्कृत एवं लोकभाषा दोनों में गद्य पद्यात्मक २५ रचनाएँ प्राप्त हैं जिनका परिचय यहाँ कराया जा रहा है।

संस्कृत टीकाएँ

१ गौतमकुलक वृत्ति—२० गाथा वाले प्राकृत प्राचीन भाषा के प्राचीन कुलक पर आपने यह विशिष्ट टीका की है। इसमें प्रसंगानुसार ५१ कथायें संस्कृत पद्य में भी हैं। इस वृत्ति का परिमाण प्रशस्ति के अनुसार ५४०१ पर लगन प्रशस्ति के अनुसार ६० श्लोक का है। इसका संशोधन उपाध्याय जयसोम व धर्मनिधान जैसे विद्वानों ने किया है। सं० १६७१ में इसकी रचना हुई है। सचमुच प्रस्तुत ग्रन्थ आपकी विद्वत्ता का सफल परिचायक है। इसकी प्रति पूर्ण चन्द्रजी नाहर के संग्रह में पूर्ण व हमारे संग्रह में अपूर्ण है।

५—इनका सं० १६४५ में रचित सुभद्रा चोपई जयपुर के खरतर भंडार में है।

६—श्री सारजी अच्छे विद्वान् एवं कवि हो गये हैं जिनकी रचनाओं के संबंध में हमारा युग प्रधान जिनचन्द्रसूरि पृ० २०७ देखना चाहिये। आपकी विचार भिन्नता से खरतर गच्छ में श्री सार शाखा भेद हुआ। स० जर्मकीर्तिजी ने कल्पसूत्र की कल्प मंजरी टीका में श्रीसार का उल्लेख किया है।

७—जैसलमेर भंडार सूची पृ० ६४ में लालचन्द भगवानदास गांधी ने सहजकीर्ति को रत्नसार का शिष्य बतलाया है पर वास्तव में आप उनके प्रशिष्य थे।

२ सारस्वत व्याकरण वृत्ति—सं० १६८१ मा० सु० १५ को लक्ष्मीकीर्त्ति की अभ्यर्थना से प्रस्तुत वृत्ति की रचना की। इसकी प्रति स्थानीय अनूप संस्कृत लाइब्रेरी व श्री पूज्यजी के संग्रह में है।

३ कल्पसूत्र की कल्पमंजरी टीका—आपने प्रगुरु रत्नसार के नाम से इसकी रचना सं० १६८१ में की है। स्थानीय अभयसिंह भंडार में इसकी प्रति है।

४ महावीर स्तुति वृत्ति—इसका उल्लेख जैसल० भ० सू० पृ० ६४ के अनुसार जैन साहित्य नो संक्षिप्त इतिहास के पृ० ६०० पर है। जिनरत्न कोश पृ० ३०७ के अनुसार मूल स्तुति के कर्त्ता उ० जयसागर हैं। इसकी प्रति कांतिविजय भंडार बड़ोदा में है। प्रस्तुत ग्रन्थ में रचनाकाल सं० १६६८ छपा है, देशाई ने पृ० १६०६ लिखा है। पता नहीं देशाई की भूल है या वेलणकर की।

भाषा टीका

१ प्रवचनसारोद्धार बालावबोध सं० १६६१ तेरापन्थी सभा, सरदारशहर पत्र १७१

२ प्रतिक्रमण बालावबोध सं० १७०४ फा० जैसलमेर (१) जयकरण जी संग्रह (२) हरिसागर जी भ० लोद्रावर।

संस्कृत के मौलिक ग्रन्थ

१ सप्तद्वीपिशब्दार्णव व्याकरण—ऋजु प्राज्ञ व्याकरण प्रक्रिया—जैसलमेर भंडार सूची पृ० ६४ के अनुसार ऋजु प्राज्ञ व्याकरण एवं विद्ध (?) शब्दार्णव दोनों भिन्न भिन्न ग्रन्थ हैं। धातुपाठ के नाम से विजय धर्मसूरि ज्ञान मंदिर में हैं।

२ अनेक शास्त्रसार समुच्चय
३ एकादिशत पर्यन्त शब्दसाधनिका } जैसलमेर भंडार सूची पृ० ६४

४ नामकोश (६ कांड) प्रति जैसलमेर भंडार

५ शतदलकमल यंत्र (स्तव) सं० १६८३ का० १५ लोद्रवपुर में रचित।

६ विशेषर सम्बन्ध (जीवदयापर रचित) पत्र दो हमारे संग्रह में, पत्र तीन यति विष्णुदयालजी

रास चौपई आदि लोकभाषा में रचित काव्य ग्रन्थ

१ सुदर्शन चौपई (गा० ४३१) सं० १६६१ बगडीपुर, अहमदाबाद भंडार में प्राप्त।

२ कलावती चौपई (गा० १६२) सं० १६६७ श्रा० सु० १५ किसनगढ, श्रीपूज्यजी संग्रह।

३ विसनसतरी गा० ७१ सं० १६६८ नागौर भुवनभक्ति भंडार।

४ देवराज वच्छराज चौपई सं० १६७२ खीमसर हमारे संग्रह में।

५ सागर सेठ चौपई १३ गा० २३२ (ग० ३१२) सं० १६७५ बीकानेर ”

६ राय पसेणी उद्धार चौप० (खंड ३ गा० १४ ६) सं० १६७६ श्री नरणु स्थान, बनारस भंडार।

७ शान्तिनाथ विवा० ला स १६७८ विजयदशमी, नालछामर, तेरापंथी सभा सरदार शहर।

८ जैसलमेर चाप० परिपाटी (७ गीत) स १६७८ लिखित श्रा० मानादे पठनार्थ।

९ लाद्रवा पार्श्वस्तवन गा ६ सं० १६८२ पोषदशमी यात्र, थाहरू भं० जैसलमेर।

१० थिरावली (१ = नाम) गा० ३३ स १ =३ मा त ७ नैनगर। जै भ

११ शत्रुंजयमा त्म्यरास (९ खंड) गा० ८५ स १४८४ आसणीकोट, हमारे संग्रह म।

१२ शीलरास गा ८१ म १६८६ श्रा सु० १४ कृष्णगढ़, हमारे संग्रह में।

१३ प्रीति छतीसी　सं० १६८८ विजयदशमी, सांगानेर।

१४ ऋषिदत्त रास　स १६६७　हमारे संग्रह म।

प्रस्तुत रास म अपने ६ रासा का उल्लेख कवि न इस प्रकार किया है—

> दान वखाण्यो बहु परइ, सागर नइ अधिकार।
> उच्छ्राह नरदेव निन, चरित अधिक विस्तार।
> सठ सुदर्शण चरित कही, अधिक वखाण्यो शील।
> कलावती अधिकतिम, लाधी शिवपुर लील।
> जिणवर पूजा फला कथ्या, राइप सेणी उदार।
> म हातम शत्रुंजतणा, भाख्या विविध प्रकार ।४।
> उत्तम नर ना चरित कही, सकल जीव उपगार।
> सघला जीवा जीभए, सरस सीध उपगार ।५।

१६ अष्टा पद्-मन्द स्तवन गा १　सं० १७०४

१६ वैराग्य शतक　१७ उपदेश छतीसी　हमारे संग्रह म।

१८ एकसो आठ स्थान गर्भित पार्श्व स्तवन।

१९ उपधान विधि स्तवन　२ शत्रुंजय स्तवन गा० १७

२१ उपगार छतीसी　जिनराजसूरि गीतानि।

२३ चार कषाय सझाय　२४ साधुसमकित गीत।

इनमें शत्रुंजय महात्म्य रास सबसे बड़ा भ षा ग्रन्थ है।

जैन साहित्य के निर्माता सैकड़ों विद्वान् अभी अंधकार म अज्ञात हैं उन सबका प्रकाश में लाना हमारा परम कर्त्तव्य है। मेरे लेख परिचय मात्र ही होते हैं वास्तव म ग्र थों का आज की तरह अध्ययन कर समालोचनात्मक पद्धति स हमारे विद्वानों का परिचय प्रकाशित होना चाहिये। यदि कोइ अधिकारी विद्वान् ऐसा करने के लिए तैयार हो तो सामग्री जुटाने व उपयोगी सूचनाएँ देने का सहयोग देते रहने के लिये मैं तैयार हूँ। कोइ संस्था मेरे लेखों में उद्धृत ग्रन्थों का प्रकाशित करना चाहे तो उनकी प्रति आदि भेजने का प्रयत्न भी किया जा सकेगा।

निर्वाण

[ले०—प्रो० विमलदास कौन्देय, M. A. LL B Nyayatirth, Shastri]

साहित्य मे जितने शब्दो का प्रयोग किया जाता है उन सबके पीछे कुछ न कुछ इतिहास छिपा रहता है। निर्वाण शब्द का भी इतिहास है। इसका सर्व प्रथम किसने प्रयोग किया और क्यों किया—ये प्रश्न शब्द-शास्त्र (Philology) से सम्बन्ध रखते है। शब्द-शास्त्र उनकी उत्पत्ति, प्रयोग, प्रचार और वर्तमान अवस्थिति पर विचार करता है। हमारे विचार से निर्वाण शब्द बौद्ध दार्शनिकों की देन है। इसका प्रयोग बौद्ध साहित्य मे अधिक पाया जाता है उससे कम जैन वाङ्मय मे इसका प्रयोग है। जहा तक इसकी व्युत्पत्ति का सम्बन्ध है इसका अर्थ निम्न लिखित है:—'नि 'उपसर्ग पूर्वक 'वा धातु से निर्वाण शब्द बना है, जिसका अर्थ होता है 'बुझा देना', यहा पर प्रश्न होता है क्या बुझा देना ?

बौद्ध साहित्य मे वर्णन आता है कि महात्मा बुद्ध ने परिनिर्वाण प्राप्त किया। इसका अर्थ है कि भगवान बुद्ध की आत्मा शान्त हो गई। बौद्ध पिटकों मे एक वाक्य और आता है—'शान्तं निव्वान'—अर्थात् निर्वाण शान्त होता है, वहा आत्मा की शान्ति हो जाती है। इसीके अभिप्राय को स्पष्ट करने वाला एक और वाक्य है—'सब्ब अनन्त' विश्व मे आत्मा नामका कोई पदार्थ नहीं। जिसको हम आत्मा कहते है वह स्कन्ध प्रचय है। स्कन्धो के नष्ट होने से या नाशमान होने से आत्मा भी नष्ट हो जाती है और पश्चात् कुछ अवशेष नहीं रहता। इसी तत्व का सर्व सुन्दर वर्णन अश्वघोष ने सौन्दरनन्द मे किया है।

'दीपो यथो निवृतिमभ्युपेतो नैवावनिं गच्छति नान्तरिक्षम्।
दिशं न कांचित् विदिशं न कांचित् स्नेहक्षयात् केवलमेति शान्तिम्॥
जीवस्तथा निवृतिमभ्युपेतो नैवावनि गच्छति नान्तरिक्षम्।
दिशं न काचित् विदिशं न काचित् क्लेशक्षयात्केवलमेति शान्तिम्॥

जिस प्रकार दीपक नष्ट होने के समय न तो पृथ्वी की ओर जाता है, न आकाश की ओर जाता है, न किसी दिशा की ओर जाता है, न विदिशा की ओर जाता है, केवल तैल के क्षय होने से बुझ जाता है। उसीप्रकार यह ससारी जीव भी जब निर्वाण को प्राप्त होता है तब न तो पृथ्वी की ओर जाता है, न आकाश की ओर जाता हे, न किसी दिशा की ओर जाता है और न विदिशा की ओर जाता है, वह केवल क्लेश, दुःखादि के क्षय होने से नष्ट हो जाता है। यह है निर्वाण की अश्वघोष की व्याख्या जिससे सर्वथा स्पष्ट हो जाता है कि निर्वाण एक प्रकार की बुझने की सी प्रक्रिया है जो निवर्तन करता है। इस प्रकार का परिनिर्वाण बुद्ध ने प्राप्त किया था। इसलिये जगत मे बुद्ध निर्वाण प्रसिद्ध है। कोई शब्द जब इस प्रकार प्रयुक्त हो कर प्रसिद्ध हो जाता है तब वह

आमनाला की शब्दावली का शब्द बन जाता है और जनता उस शब्द का उस अर्थ में बिना परिश्रम के प्रयुक्त करती है और इससे उनको सरलतापूर्वक अवगति होती रहती है।

जैन धर्मावलम्बियों का भाषा विशेष का कभी आग्रह नहीं रहा है। उन्होंने सर्वदा निज भाषा का प्रचार देख उसमें अपने भावों को प्रकट करने का साहस और प्रयत्न किया है। यही कारण है कि जैन वाङ्मय भिन्न २ भाषाओं में अनुबद्ध आज हमारे सामने विद्यमान है। जैन विद्वानों और आचार्यों ने इसीलिये संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश कन्नड आदि सभी भाषाओं में साहित्य लिखा है और तत्तत् समय की शब्दावली का खूब उपयोग किया है।

निर्वाण शब्द का भी प्रयोग इसी मनोवृत्ति का परिणाम प्रतीत होता है। जैन श्वेताम्बर आगम और दिगम्बर साहित्य में तो इस शब्द का प्रयोग अत्यधिक किया गया है। यद्यपि भगवान् तीर्थंकर परमदेव का मोक्ष कल्याणक होता है और यही वास्तविक रूप से जैन सिद्धान्त के अनुकूल आता है, क्योंकि जैनियों का मोक्ष का लक्षण है 'कृत्स्नकर्मविप्रमोक्षो मोक्षः' अर्थात् मोक्ष वह अवस्था है जिसमें सम्पूर्ण कर्म नष्ट हो जाते हैं। मोक्ष में कर्मों का अभाव होता है। जीव अपने अनन्त दर्शन, ज्ञान, चारित्र, सुख, वीर्य आदि अनन्त गुणों को प्राप्त हो जाता है। जो जीव का स्वाभाविक अवस्था थी वह प्रकट हो जाती है। यहां न तो गुणों का उच्छेद है न आत्मा की शान्ति और न ब्रह्म समावेश —यह तो कर्माभाव से जन्य आत्मस्वरूप की पूर्ण शुद्ध अनुभूति है जिसे जीव अपने चरमकाल के रूप में प्राप्त करता है। इसलिये इस अवस्था को जैन दृष्टि से मोक्षावस्था ही कहा जा सकता है और कुछ नहीं।

किन्तु जैन धर्मावलम्बियों का उन शब्दों के व्यवहार और प्रयोग में कोई आपत्ति नहीं, जिनमें जैनत्व का नाश न हो और जनता अपने शब्दों में जैनत्व को समझ ले। यही कारण है कि जब इन्द्र ने भगवान वीतराग जिनेन्द्र की स्तुति की तो १००८ शब्दों से उनका स्तवन किया। यह सहस्र नाम उन सब नामों का समूह है जिनमें महान् पुरुषों के लिये प्रयुक्त प्रायः सभी शब्दों का प्रयोग किया गया है। इसीलिये भगवान् वीतराग जिनेन्द्र को, महेश्वर, शम्भु, शङ्कर, बुद्ध, जिन प्रत्येक बुद्ध, अर्हत्, पुरुषोत्तम आदि सभी शब्दों द्वारा सम्बोधित किया गया है। कई तो ऐसे शब्दों का भी प्रयोग किया है जिनका अर्थ बदलकर जैनधर्म सम्मत अर्थ बतलाना पड़ता है जिससे कि जैनत्व का घात न हो।

निर्वाण शब्द का भी कुछ ऐसा ही इतिहास है। जैन आचार्यों ने इसका प्रयोग कई अर्थों में किया है। यहां कुछ अर्थ दिये जाते हैं जो निर्वाण के लिये जैनाचार्यों ने प्रयुक्त किये हैं।

(१) निर्वाण का अर्थ है 'आत्मस्वरूप की प्राप्ति' इस अर्थ में दिगम्बर और श्वेताम्बर दोनों सम्प्रदायों के आचार्यों ने किया है।

(२) निर्वाण का अर्थ है 'कर्मकृत विकारों का नष्ट होना'। यह कर्मों के निर्दहन की अपेक्षा है, क्योंकि कर्मों का क्षय होना ही मुक्ति है।

(३) निर्वाण का अर्थ है 'जन्म, मरण, जरा आदि के दुःखों से निवृत्ति होना। यह मनुष्य के संसार की प्रक्रिया के नष्ट होने से अर्थ किया गया है।

(४) निर्वाण का अर्थ यह भी है कि सब प्रकार के दुःखों से निवृत्ति होकर आत्यन्तिक सुख की प्राप्ति करना। इसको निःश्रेयस प्राप्ति भी कहते है। इस अर्थ में भी इसका प्रयोग किया जाता है।

(५) कहीं २ इसका अर्थ अष्ट कर्म के नाश से समुत्पन्न केवलत्व आदि गुणों की प्राप्ति भी किया गया है, जो सिद्धत्व के प्राप्त होने पर होती है।

इस प्रकार हम देखते है कि जैनाचार्यों ने इतने जो अर्थ किये है वे सब जैनत्व की रक्षा को लिये हुए, किये गये हैं। वास्तव में देखा जाय तो जितना शब्द व्यवहार है वह नय नयाश्रित है। कहा भी है 'जावइया वयणवहा तावइया नय वाहा" अर्थात् जितने वचन है वे सब नयवाद है। और जितना नयवाद है वह सब व्यवहार है। इसलिये व्यवहार का उपयोग जैनियों को करने में कभी आपत्ति नहीं रही है, किन्तु इतना लक्ष्य अवश्य रक्खा गया है कि कहीं व्यवहार से निश्चय का घात तो नहीं हो जाता यही जैन दृष्टि सम्यक्दृष्टि कहलाती है।

इस प्रकार निर्वाण शब्द के उद्गम प्रयोग और व्यवहार को जानकर अब हम इसपर विचार करेंगे कि इस शब्द का प्रयोग महावीर भगवान् के साथ अत्यधिक क्यों किया गया है।

विश्व विभूति, निग्गथनाथपुत्त श्रमण भगवान् महावीर का व्यक्तित्व तात्कालिक बौद्ध साहित्य से प्रतीत होता है। जैन वाङ्मय में तो उनके व्यक्तित्व के विषय में कल्पनातीत वर्णन मिलता है। जैन मान्यता के अनुसार तीर्थंकरों के ५ कल्याणक माने गये हैं। इन पांच कल्याणकों की घटनाएँ सब तीर्थंकरों में समान होती हैं। विदेह क्षेत्रगत तीर्थंकरों में कल्याणक २. ३ भी होते हैं। पूर्व दो कल्याणकों के विषय में विवाद हो सकता है किन्तु अन्तिम तीन कल्याणक अत्यन्त आवश्यक हैं और उनके बिना तो तीर्थंकरत्व का अर्थ ठीक ही नहीं बैठता। निवृत्ति, ज्ञान और मोक्ष ये तीन घटनाएँ तीर्थंकरों के जीवन की विशेष हैं। संसार का परित्याग कर साधु मार्ग का ग्रहण करना—दिव्य ज्ञान का उद्गम होना और जगत् का कल्याण करने के बाद निवृत्ति प्राप्त करना ये जैनत्व की विशेष प्रक्रियाएँ है। तीर्थंकर इन्हीं के कारण पूज्य माने जाते हैं।

मैं गर्भ और जन्म को इसलिये विशेष महत्व नहीं देता क्योंकि दोनों प्रक्रियाएँ साधारण हैं। रही उत्सव मनाने की बात या राज घराने में उत्पन्न होने की बात—यह तो जीव पूर्वजन्म में जैसा करेगा उसके अनुसार वह उसको प्राप्त कर लेगा। जैन धर्म अवतार वाद में विश्वास नहीं करता और न उसको कोई विशेष महत्व ही देता है। एक बार निवृत्ति को प्राप्त हुए जीव फिर कभी संसार में नहीं लौटते। अन्यथा मोक्ष का कोई अर्थ ही नहीं रह जाता। मोक्ष प्राप्ति

पर्यन्त अल्पकालिक सुख प्राप्ति के समान हो जायगी और पश्चात् फिर वही जन्म, मरण की परम्परा चलती रहेगी। जीवको आत्यन्तिक सुख की प्राप्ति कभी नहीं हो सकती और न जीव का स्वराज्य में अवस्थान ही हो सकता है। मोक्ष वह छुटकारा है जिसके प्राप्त होनेपर पुनः बन्धन नहीं होता है—जैन दर्शन में मुक्ति का नाम स्वराज्य है। आत्मराज्य प्राप्त होनेपर फिर बन्धन कैसा? इसलिये जैन धर्मावलम्बियों ने मोक्षको सर्वोपरि स्थान दिया है। यह जीवन का लक्ष्य है। इसकी प्राप्ति बिना जीवको शान्ति और सुख प्राप्त नहीं हो सकता। 'मुक्त्वापुनरागमन्ते भव तीर्थं निकारत' मोक्ष प्राप्त करके तीर्थ की अवनति देखकर पुनः विश्व में मुक्त आत्माएँ अवतरित होती हैं—इस सिद्धान्त में जैन धर्मका विश्वास नहीं। तथा तर्कदृष्टि से भी यह सिद्धान्त गलत है। हमारी बुद्धि का यह माँग है कि वह अपनी सीमित अवस्था से ऊपर जाना चाहती है। यदि हमें सीमित अवस्था में रहना पड़े तो यह बुद्धि का व्याघात होगा। पूर्णत्व की भावना इसे पूर्णत्व की ही ओर प्रेरित करती है और पूर्णत्व प्राप्त होनेपर पुनः अपूर्णत्व कैसा? यह तो तर्क की और ज्ञान की विडम्बना होगी। श्रमण महावीर भगवान् ने इस पूर्णत्व को प्राप्त किया था इसलिये ही जनता ने उन्हें सर्वदर्शी, सर्वज्ञानी, सर्वसुखी आदि विशेषणों से उद्घोषित किया। उनके इस चरम विकास का वर्णन जैन शास्त्रों में दर्शनीय है।

जब भगवान् महावीर की मोक्ष हुई तब उन्होंने कर्मनिर्मूलन प्रक्रिया की। उस प्रक्रिया में उन्होंने शेष अघातिया कर्मों का नाश किया। घातिया चार कर्मों का नाश केवलज्ञान की प्राप्ति के पूर्व हो चुका था। श्रमण भगवान् महावीर ने केवलज्ञान की प्राप्ति के अनन्तर ३० वर्ष तक समग्र भारतवर्ष में विहार कर जीवों का चैतन्य का उपदेश किया। उन्होंने तीन कालका उपदेश किया, छह द्रव्यों का उपदेश दिया, नव पदार्थों की व्याख्या की, षट्काय जीव का स्वरूप, लेश्यादि का उपदेश दिया, पाँच अस्तिकाय बतलाये व्रत, समिति, ज्ञान, चारित्र आदि भेद बतलाकर उनका महत्व बतलाया। नय, प्रमाण निक्षेप स्याद्वाद, सप्तभंगी वाद, अनेकान्तवाद वगैरह का विस्तृत व्याख्यान किया। इस प्रकार भगवान ने लोगों को दिये हुए अखण्ड ज्ञान का सार जहाँ जिसका वर्णन कविवर भागचन्द जी के शब्दों में इस प्रकार है—

> यदीया वाग्गंगा विविधनयकल्लोलविमला।
> बृहज्ज्ञानाम्भोभिर्जगति जनतां या स्नपयति।
> इदानीमप्येषा बुधजनमरालैः परिचिता।
> महावीरस्वामी नयनपथगामी भवतु नः।

जिनकी वाणीरूपी गंगा अनेक नयों की कल्लोलों से स्वच्छ होकर बहती थी। और जो उनके महान् ज्ञानरूपी जल से जनता को स्नान कराती थी। जिनकी वाणीरूपी प्रवाह को आज भी विद्वज्जनरूपी हंस अच्छी तरह जानते हैं। इस प्रकार परोपकारी वीतराग महावीर स्वामी हमलोगों के नेत्रों में सदा निवास करते रहें।

भगवान् की वाणी सर्वभाषामयी होती है। कहते हैं भगवान् के समवशरण में उपस्थित जन १८ महाभाषा (Langvajl) और ७०० लघुभाषा (Dialets) बोलते थे। यह भगवान् की दिव्य ध्वनि का ही असर था कि प्रत्येक प्राणी अपनी अपनी भाषा में भगवान् के उपदेश को समझता था। भक्तामर स्तुति स्तोत्र में कहा भी है "दिव्यध्वनिर्भवति ते विशदार्थसर्वभाषास्वभाव परिणामगुणप्रयोज्य"। भगवान् आपकी दिव्यध्वनि समग्र अर्थको विशद करनेवाली और तत् तत् भाषाओं में परिणत होने के गुण से युक्त होकर विश्व के जीवों के कल्याणार्थ बिखेरती है। इस वाणी से ही भव्यजीव सबोधि प्राप्त करते हैं।

इस प्रकार निर्ग्रंथनाथ पुत्त श्रमण भगवान् महावीर अनन्त ज्ञानका सूर्य था और वह अपने प्रकाश से जगत् को प्रकाशित करता रहता था, यह दिव्य कार्य उन्होंने ३० वर्ष तक किया। अन्ततोगत्वा जब आयुकर्म क्षीण हो गया, तब ७२ वर्ष की अवस्था में कार्तिक कृष्णा अमावस्या के दिन प्रातःकाल जब भास्कर अपने प्रकाश में जगत् के साथ अट्टहास करने को उद्यत हो रहा था उस समय वह तेजोनिधि विश्व का दीपक बुझ गया। इसके बुझने से जगत् अन्धकारमय हो गया। उस समय अनेक राजा, महाराजा, श्रीमन्त, सेठ, साहूकार, इन्द्रादि देवों ने मिलकर परिनिर्वाण महोत्सव मनाया। निर्वाण होनेपर भी ज्ञान के प्रतीक दीपकों को जलाकर उस समय देव और मनुष्यों ने मिलकर निर्वाण कल्याणक का उद्योत किया। दीपावली इस लक्ष्य की द्योतक है कि छद्मस्थ जीवों का ज्ञान दीपकों के हिमालय के समान है। ज्ञान का उद्योत दीपकों से नहीं होता और न दीपावलियों से ही होता है। यह तो आत्मा की प्रभा है जिसके समक्ष अनन्त सूर्यों का प्रकाश है। अत निर्वाण शब्द का इतिहास उपर्युक्त रहस्य को प्रकट करता है।

सारङ्गसार वृत्ति का विशेष परिचय

[ले०—श्रीयुत भवरलाल नाहटा]

अनेकार्थ साहित्य जैन साहित्य का एक महत्व पूर्ण अङ्ग है। यह साहित्य जैन विद्वानों द्वारा रचित जितने परिमाण में प्राप्त है सभवत अन्य कृत नहीं मिलता। इसके सम्बन्ध में जैन सिद्धान्त भास्कर वर्ष ८ अ १ में "जैन अनेकार्थ साहित्य" शीर्षक लेख पूर्व प्रकाशित हो चुका है, उसके पश्चात् कतिपय अन्य रचनाएँ प्राप्त हुई हैं, जिनका परिचय नीचे दिया जा रहा है—

(१) पाणिनी द्वयाश्रय—मेघविजय रचित (विजय प्रभु सूरि के विज्ञप्ति पत्र रूप में) ४ ४ *विश्राम के २ काव्य प्रति भाण्डारकर रि० इ० पूना*

(द्वयाश्रय काव्य अनेकार्थ साहित्य की कोटि में समवत नहीं आते, पर पूर्व लेख में उनका निर्देश होने से दिया गया है)

(२) पचसधान काव्य—शान्तिराज (दि०) टीका सहित, प्राप्त जैनमठ कारकल म (इसका विशेष परिचय प्रकाश में आना आवश्यक है)

(३) "नमिमा" शब्द के १०१ अर्थ की सज्झाय—धामविमलसूरि (स० १६३२ श्रा० व० ७ अहमदाबाद जैन गु क अ ३ पृ ६५१

(४) "अप्रगन्य" आद्य पद वाले श्लोक के १६ अर्थ स० मुनिमेरु उपाध्याय, तैरमुक्तिकदेश भद्र विवाह समय रचित (प्रतिलिपि हमारे सग्रह में)

(५) ब्रह्मालुरुशिराम्भि श्लोक द्वय के १२ अर्थ (हमारे सग्रह में)

(६) करजादि ३२ वर्णोत्तर श्लोक वृत्ति (अणर्थी श्लोक वृत्ति) सूल्नद (हमारे सग्र० में)

(७) अणत्तर शत 'कमल" शब्द गर्भित नमिनाथ स्तोत्रम् स्वोपज्ञ वृत्ति स० हेमविजय

(८) 'शमालोएसत्पसाहूणा' के १ ८ अर्थ विनयहस (हमारे सग्रह में)

(९) एकार्थागाथा के ३६ अर्थ विवेकसागर (खतरन सग्र० में)

(१०) पचतार्थी श्लोक के ७ अर्थ हर्षकुल ,, ,,

(११) पुण्डरीक शत्रुशतार्थ स्तव गा० २७ सवविजय ,, ,,

(१२) सारग शतार्थ मय पार्श्व स्तोत्र गा ७ रामविजय ,, ,,

(१) समस्यापूर्त्ति स्तोत्र ,, ,,

अन्य अनेक टीकादि ग्रन्थों म अनेकार्थ साहित्य की उपलब्धि होती है। भास्कर में प्रकाशित उपर्युक्त लेख म रतनगढ़ पुस्तकालय की शतार्थीक कर्त्ता का नाम नहीं दिया था पीछे से प्रति को मगाकर देखन पर यह कवि चक्रवर्ती श्रीपाल रचित प्रमाणित हुई है। स्व जिनयानन्दसूरि के स्तुतिमिदं १ श्लोक के ७१ अर्थ प० वैद्यनाथ शर्मा नामक जैनेतर विद्वान ने किये हैं। हमारे

उपर्युक्त लेख मे उल्लिखित खरतर गच्छीय हंसप्रमोद विरचित सारंगसार वृत्ति का आदि अन्त श्लोकों के साथ संक्षिप्त परिचय जैसलमेर भाण्डागारीय ग्रन्थाना सूची पृ० ६७-१३ मे प्रकाशित है और इनका उल्लेख अनेकार्थ रत्न मञ्जूषा मे हीरालाल रसिक दास कापडिया ने भी किया है। इस ग्रन्थ की अद्यावधि केवल एक ही प्रति तपागच्छ उपाश्रय भंडार जैसलमेर में उपलब्ध थी। वह प्रति आचार्य श्री विजयसूरि जी के पास कलकत्ते मे हमारे अवलोकन मे आई उसीके आधार से विशेष परिचय इस लेख मे दे रहे हे।

इस ग्रन्थ मे सारंगसार वाक्य से प्रारम्भवृत्त के २६६ अर्थ किये गये हैं. जिनमें पिछले कई अर्था मे कुछ ऐतिहासिक व्यक्तियों का भी उल्लेख पाया जाता है। अर्थो की नामावली एव ऐतिहासिक तथ्यों का सार अद्यावधि अप्रकाशित होने से यहाँ दिया जा रहा है। हमारे अनेकार्थ साहित्य का अन्वेषण अभीतक बहुत कम हुआ है, खोज करने पर छोटी बड़ी अनेक-कृतियाँ मिलने की संभावना है। साहित्य प्रेमी विद्वानों से अनुरोध है कि वे जैन धर्म के इस विशिष्ट अनेकार्थ साहित्य को शीघ्र प्रकाश मे लावें।

आदि:—

॥ श्री भारती चरणारविन्दाय नमः॥

नमस्कृत्य कृतानन्दं कन्द सौभाग्यसाखिनः
वीरं बह्वर्थवृत्तस्य वृत्तिं कुर्वे यथामतिः ॥१॥

तच्चेद वृत्त—सारंगसारकमलादरसोमकान्ताः, देवागमामृतविभाजय धीरभूते।
वामोपकारभरताधिपराजमान वर्णाप्त, वन्धुरशिवाङ्गहरेत्तभावः ॥१॥

अत्र वर्णपदार्थाः—

चतुर्विंशतिर्जिना ॥२४॥ पुण्डरीकगणधर ॥२५॥ गौतमगणधर ॥२६॥ नव चक्रवर्तिन ॥३५॥ नव वासुदेवा. ॥४४॥ बलभद्रः ॥४५॥ नवग्रहा ॥५४॥ गिरिः ॥५५॥ मेघ ॥५६॥ ब्रह्मा ॥५७॥ शम्भु ॥५८॥ इन्द्र. ॥५९॥ कन्दर्प. ॥६०॥ स्कद ॥६१॥ गणेश ॥६२॥ राजा ॥६३॥ समुद्र. ॥६४॥ मेरु. ॥६५॥ कैलाश ॥६६॥ दिन ॥६७॥ ऐरावत. ॥६८॥ स्वर्ग. ॥६९॥ शेषनागः ॥७०॥ भटः ॥७१॥ विप्र ॥७२॥ प्रसाद. ॥७३॥ दम्भालिः ॥७४॥ वृक्षः ॥७५॥ रावण ॥७६॥ हस. ॥७७॥ हरिण. ॥७८॥ चातक ॥७९॥ मयूर. ॥८०॥ धनद ॥८१॥ उच्चै. श्रवाहय. ॥८२॥ जयन्त ॥८३॥ वायु ॥८४॥ अग्नि ॥८५॥ हनुमान् ॥८६॥ भीम ॥८७॥ अर्जुन. ॥८८॥ द्रव्य ॥८९॥ गरुण ॥९०॥ भृङ्ग ॥९१॥ नारद ॥९२॥ अरुण ॥९३॥ पाञ्चजन्य. ॥९४॥ सिद्धान्तः ॥९५॥ देवचैत्य ॥९६॥ सिंह ॥९७॥ असिः ॥९८॥ पण्डित ॥९९॥ प्रदीपः ॥१००॥ जल ॥१०१॥ स्वर्णः ॥२॥ रजत ॥३॥ दुर्ग ॥४॥ मार्ग. ॥५॥ नृपमन्दिर ॥६॥ भू ॥७॥ पारदः ॥८॥ मुक्ताफल

चोरासी गच्छाचार्यों के समक्ष खरतर गच्छीय प्रमाणित करके धर्मसागर की प्ररूपणा मिथ्या प्रमाणित की।

४ अकबर की अभ्यर्थना से श्री जिनसिंह सूरि जी ने उनके साथ काश्मीर विहार किया और एक मास तक वितस्ता नदी की मछलियों की रक्षा की (मारना बन्द हुआ)।

५ काश्मीर से लाहोर आकर श्रीजिनचन्द्र सूरि को विनति कर अकबर ने मानसिंह जी को आचार्य पद दिलाया (सं० १६४६ फा० सु० २ भृगु)—कर्मचन्द्र ने सवा करोड़ द्रव्य व्यय किया[१]।

६ शिष्य के अनुरोध से कर्त्ता ने शेर में अपने नाम के अर्थ वाली टीका भी रची।

७ हंसप्रमोद का जन्म सोराष्ट्र देश में हुआ था।

८ हंसप्रमोद जी ने मन्त्रीश्वर कर्मचन्द्र के पुत्र भाग्यचन्द्र लक्ष्मीचन्द्र के बन्धन मोक्ष का निर्णीत दिवस आम्नाय से बतला दिया।

९ हंसप्रमोद जी ने सैकड़ों विद्यार्थियों को पढ़ाया था।

१० कालाऊना ग्राम में राम के पुत्र भगवानदास ने चतुर्दशी के दिन चोरों को पकड़ा। श्रद्धालु श्रावकों के निवेदन करने पर आम्नाय के बल से उन्हें (हंसप्रमोद जी ने मारे जाते हुए चोरों को) अभयदान दिलाया।

अन्त्य प्रशस्ति—

युगप्रधान सश्रीका जिनचन्द्रगणाधिपः।
राजन्तेऽकबरोर्व्वीश प्रतिबोधविधायकाः ॥१॥
सुराचार्य इवाचार्य श्रीजिनसिंहसूरिराट्
विभातिविबुध श्रेणिसमाश्रितपदाम्बुजः ॥२॥
सुरतरुसम शोभाधर आसीज्जिनकुशलसूरिगुरुराजः।
तच्छाखाया जज्ञे वाचक वरमोदराजगणिः ॥३॥
वाचक वृषभा आसन् तच्छिष्या भावमन्दिरास्तदनु
श्रीपाठक नन्हिजया लब्धजया प्राज्ञपर्षदस्तु ॥४॥
जीवितव्यमभूद्येषां शरदां षोडशं शत।
तत्सतीर्थ्या बभूवुस्ते साधुवर्द्धनवाचकाः ॥५॥
तेषां शिष्यागुणैर्मुख्या विख्यातागमपारगाः।
महिममेरुगणयो जज्ञिरे वदतावराः ॥६॥

१—राय बद्रीदास म्युजियम कलकत्ते में इसकी एक प्रति उपलब्ध हुई है वह ४२ पत्रों की है। पत्रांक २-३-४ क्रम है व नये पत्र थोड़े थोड़े में स्थित हैं। प्रति १७वीं शती की ही लिखित है।

जैनधर्म का महान् प्रचारक—सम्राट् सम्प्रति

[ले०—श्रीयुत पं० नेमिचन्द्र शास्त्री ज्योतिषाचार्य]

मौर्य राजाओं में सम्राट् चन्द्रगुप्त और सम्प्रति दोनों ही जैनधर्म के महान प्रचारक हुए है। बौद्ध धर्म के प्रचार में जो स्थान अशोक को प्राप्त है, जैनधर्म के प्रचार और प्रसार में वही स्थान सम्प्रति का है। सम्प्रति की जीवन गाथा के सम्बन्ध मे हेमचन्द्र ने अपने परिशिष्ट पर्व में लिखा है कि बिन्दुसार की मृत्यु के पश्चात् अशोक राज्यासीन हुआ। अशोक के लाडिले पुत्र का नाम कुणाल था। सम्राट् अशोक को सर्वदा यह चिन्ता बनी रहती थी कि कहीं ऐसा न हो कि विमाता तिष्यरक्षिता कुमार कुणाल के जीवन को खतरे मे डाल दे तथा वह अपने षड्यन्त्र द्वारा अपने पुत्र को राज्याधिकारी न बना दे। अतः अशोक ने कुणाल को उज्जयिनी में अपने भाई के संरक्षण मे रखा। जब कुणाल आठ वर्ष का हो गया तो रक्षक पुरुषों ने राजा अशोक को सूचना दी कि कुमार अब विद्याध्ययन करने के योग्य हो गया है। सम्राट् अशोक इस समाचार को सुनकर बहुत प्रसन्न हुआ और अपने हाथ से कुमार को विद्याध्ययन कराने का आदेश सूचक पत्र लिखा। पत्र समाप्त करने के पश्चात् सील-मुहर करने से पहले ही अशोक किसी आवश्यक कार्य से बाहर चला गया। इधर रानी तिष्यरक्षिता वहाँ आ पहुँची और उसने उस पत्र को पढ़ा। पढ़कर अपने मनोवांछित कार्य को पूरा करने के लिये "कुमारो अधीयउ" के स्थान पर अपनी आंख के काजल से एक अनुस्वार बढ़ाकर 'कुमारो अंधीयउ' बना दिया। आवश्यक कार्य से लौटकर अशोक ने पत्र बिना ही पढ़े बन्द कर दूत (पत्रवाहक) को दे दिया।

उज्जयिनी मे पत्रवाहक ने जब पत्र दिया और उसे खोलकर पढ़ा गया तो वहाँ शोक छा गया। कुमार कुणाल के अभिभावक महाराज अशोक के भाई ने तत्काल समझ लिया कि यह राजकीय विवाद का परिणाम है। परन्तु पितृ-भक्त कुणाल ने विचार किया कि पिता ने मुझे अन्धा होने के लिये लिखा है, यदि मैं पिता की आज्ञा का पालन नहीं करता हूं तो मुझ से बड़ा मौर्यवंश मे पातकी कौन होगा। अतः उसने आग मे गर्मकर लोहे की सलाइयों से अपनी दोनों आँखे फोड़ डालीं और वह स्वयं सदा के लिये अन्धा बन गया। पत्रवाहक के वापस आने पर इस दुःखद समाचार ने पाटलीपुत्र मे तहलका मचा दिया। सम्राट् अशोक भी प्रिय पुत्र के अन्धे हो जाने से बहुत दुखी हुआ तथा अपने प्रमाद पर उन्हे बहुत पश्चात्ताप हुआ।

अन्धा हो जाने से कुणाल का राज्य-गद्दी पर अधिकार न रहा। अशोक ने उसे जीविका सम्पन्न करने के लिये उज्जयिनी के आस-पास के कुछ गाँव दे दिये। कुणाल

को पुत्र, जिस के पश्चात् सर्वलक्षण-सम्पन्न एक पुत्र उत्पन्न हुआ। पुत्रोत्पत्ति का समाचार सुनकर कुणाल को बहुत प्रसन्नता हुई और उसने अपनी सौतेला-माता से बदला लेने का विचार किया। कुणाल संगीत विद्या में बहुत निपुण था, उसने संगीत की मधुर लहर बड़े बड़े चतुर सभा को आनन्दविभोर करता था। अतएव वह पाटलीपुत्र में गया और वहाँ संगीत द्वारा सारे नगर को अपने आधीन कर लिया। अन्धे गायक की प्रशंसा राजमहलों तक पहुँची, राजा अशोक ने भी पर्दे की ओट से गाना सुना। कुणाल ने मधुर कण्ठ से अमृत उडेलते हुए कहा—

प्रपौत्रश्चन्द्रगुप्तस्य बिन्दुसारस्य नप्तृकः ।
एषोऽशोकश्रियः सूनुरन्धो याचति काकिणिम् ॥

इस श्लोक को सुनकर अशोक को बड़ा आश्चर्य हुआ और पर्दे की ओट से निकल कर अन्धे गायक का पूरा परिचय पूछा। जब राजा को कुणाल का पूरा वृत्तान्त अवगत हो गया तो उसने कहा—पुत्र! क्या चाहता है? जो माँगेगा, दूँगा।

कुणाल—पिताजी! मैं एक काकिनी चाहता हूँ। मंत्री ने राजा को समझाया कि राजपुत्र काकिनी से राज्य की याचना करते हैं। अशोक ने पुनः कुणाल से कहा कि अन्धे होकर तुम राज्य से क्या करोगे? अन्धे को राज-गद्दी कैसे दी जा सकती है?

कुणाल—पिताजी! आपकी कृपा से मेरे पुत्र उत्पन्न हुआ है, आप उसका राज्याभिषेक कीजिये।

अशोक—तुम्हारे पुत्र कब उत्पन्न हुआ है? कुणाल हाथ जोड़कर कहने लगा—सम्प्रति अर्थात्—अभी। यह सुनकर अशोक ने बालक को धूमधाम के साथ पाटलीपुत्र में बुलवाया और उसका जन्मोत्सव मनाया। बालक का नाम कुणाल के उच्चारण पर सम्प्रति ही रख दिया। सम्प्रति का जन्म ई० पू० ३०४ पौषमास—जनवरी में हुआ था। मगध में लाये जाने पर इसकी अवस्था १० दिन की थी। सम्प्रति का राज्याभिषेक ई० पू० २८९ में १५ वर्ष की अवस्था में अक्षयतृतीया के दिन हुआ था।

ऐतिहासिक मतभेद—

विष्णुपुराण में अशोक का उत्तराधिकारी सुयश को[1] बताया है। राजतरंगिणी के अनुसार काश्मीर प्रान्त पर अशोक का पुत्र जालौक[?] गान्धार का शासक था। विष्णुपुराण और मत्स्यपुराण में अशोक का पोता दशरथ बताया[2] गया है। दशरथ

१—भारत के इतिहास की रूपरेखा पृ० ६१५
२—अर्ली हिस्ट्री ऑफ इण्डिया पृ० १९८

का नागार्जुन पहाड़ी (गया के पास) की गुफा में एक दानसूचक अभिलेख मिला है, जिसकी लिपि के[1] आधार पर विन्सेण्टस्मिथ का अनुमान है कि यही अशोक के राज्य का उत्तराधिकारी था। जैकोबी ने सम्प्रति को कल्पित बताया है अथवा इनका अनुमान है कि पूर्वीय राज्य का दशरथ उत्तराधिकारी था और पश्चिमीय राज्य का सम्प्रति रहा होगा।

वायुपुराण में कुणाल का पुत्र बन्धुपालित और उसका उत्तराधिकारी इन्द्रपालित बताया गया है। जायसवाल यह निष्कर्ष निकालते हैं कि बन्धुपालित और इन्द्रपालित क्रमशः दशरथ और सम्प्रति के उपनाम थे तथा सम्प्रति दशरथ का छोटा भाई और उत्तराधिकारी था[2]। तारानाथ कुणाल के पुत्र का नाम विगताशोक बतलाते हैं, संभवतः यह सम्प्रति का उपनाम हो। अशोक के शिलालेखों के आधार पर सम्प्रति का उपनाम प्रियदर्शिन् भी बताया जाता है। श्री गिरनारजी की तलहटी में सुदर्शन नामका तालाब है, उसके पुनरुद्धार सम्बन्धी शिलालेख का पीटर्सन साहब ने अनुवाद करते हुए कहा है कि इस तालाब को प्रथम सम्राट् चन्द्रगुप्त के समय में विष्णुगुप्त ने बनवाया[3] था। इसके पश्चात् इसके चारों ओर की दीवालें सम्राट् अशोक के समय में तुपस् नामक सत्ताधारी ने पहली बार सुधरवायी थीं। तत्पश्चात् दूसरी बार पुनरुद्धार प्रियदर्शिन् के समय में हुआ। इस कथन में चन्द्रगुप्त, अशोक और प्रियदर्शिन् इन तीन शासकों के नाम आये हैं। पीटर्सन साहब ने प्रियदर्शिन् उर्फ सम्प्रति के सम्बन्ध में शिलालेख से निष्कर्ष निकाला है कि "उस राजवंशी पुरुष की जन्मकाल से लेकर उत्तरोत्तर अप्रतिहत समृद्धि निरन्तर बढ़ती ही चली गयी"

ऐतिहासिक प्रमाण

(१) प्रो० रा० गो० भाण्डारकर[4] का कथन है कि राजा सम्प्रति को केवल १० दिन की अवस्था में गद्दी पर बैठाया गया था।

(२) मगध के सिंहासन पर श्रेणिक के पश्चात् सत्रहवाँ राजा सम्प्रति[5] हुआ। उसका शासन काल वी० नि० सं० २३८ (ई० पू० २८९) से आरम्भ हुआ, जब सम्राट् अशोक के शासन का अन्त हो रहा था।

१—प्राचीन भारत पृ० २१८ तथा प्राचीन राजवंश द्वितीय भाग पृ० १३४

२—भारतीय इतिहास की रूपरेखा पृ० ६१६

३—भावनगर के शिलालेख संस्कृत और प्राकृत पृ० २०

४—भाण्डारकर साहब की रिपोर्ट IV, सन् १८८३-८४ पृ० १३५

५—इंडियन ऐंटिक्वेरी पु० ११ पृ० २४६

(३) कर्नल टॉड साहब सम्प्रति[1] का शासन काल ई० पू० २०३-३०४ में आरम्भ हुआ बताते हैं तथा उनका कहना है कि दस महीने की अवस्था में यह गद्दी पर बैठाया गया था और १९ वर्ष की अवस्था में ई० पू० १९० १८९ में इसका राज्याभिषेक हुआ था।

(४) विन्सेंट स्मिथ के ग्रन्थों में लिखा गया है कि सम्प्रति[2] बादशाह म० सं० २३५ में सिंहासनासीन हुआ था।

(५) प्रो० पिशल साहब[3] की यह सम्मति है कि रूपनाथ, सासाराम और वैराट के शिलालेख भी सम्प्रति के ही खुदवाये हैं। इस अभिप्राय से प्रो० रोनडेविस साहब भी सहमत हैं।

(६) दिव्यावदान[4] के पृष्ठ ४३० में स्पष्ट लिखा हुआ है कि सम्प्रति कुणाल का पुत्र था। इस लेख में यह भी बताया गया है कि अशोक के बाद राजगद्दी पर आसीन होनेवाला प्रियदर्शिन् ही सम्प्रति है। यह जैनधर्मानुयायी था। इसके अनुसार सम्प्रति का पुत्र बृहस्पति, बृहस्पति का पुत्र वृषसेन तथा वृषसेन का पुत्र पुष्यधर्मा था।

(७) सम्प्रति[5] के समय में जैनधर्म की बुनियाद तमिल भारत के नये राज्यों में भी जा जमी, इसमें सन्देह नहीं। उत्तर पश्चिम के अनार्य देशों में भी सम्प्रति के समय जैन प्रचारक भेजे गये और वहाँ जैन साधुओं के लिये अनेक विहार स्थापित किये गये।

( ) बौद्ध[6] साहित्य और जैन साहित्य की कथाओं से सिद्ध होता है कि सम्प्रति जैनधर्म का अनुयायी प्रभावक शासक था। इसने अपने राज्य का खूब विस्तार किया था।

(९) कल्पसूत्र[7] की टीका में बताया गया है कि सम्प्रति को रथयात्रा के समय आर्य सुहस्ति के दर्शन से जाति स्मरण हो गया था, जिससे उसने जैन धर्म के प्रसार के लिये सवा करोड़ जिनालय बनवाये।

१—टॉड राजस्थान [illegible] आवृत्ति

२—इण्डियन ऐंटिक्वेरी पु० ३२ पृ० २३०

३—इण्डियन ऐंटिक्वेरी पु० १ पृ० २३९

४—राधा कुमुद मुकर्जी अशोक पृ० ८ इण्डियन एण्टी० १९१४ पृ० १ ८ फुट नो० १०

५—भारतीय इतिहास की रूपरेखा पृ० ६११

6—Both the Buddhist and the Jain traditions about Samprati have been referred to us. Cf Ray Chaudhuri op c p p 220

७—सम्प्रति "पितामहदत्तराज्यो रथयात्राप्रवृत्त आर्यसुहस्तिदर्शनाज्जातजातिस्मृति [illegible] सपादकोटि जिनालय—कल्पसूत्र सुबोध टीका सूत्र ६ पृ० १६१

(१०) स्मिथ[1] साहब ने बताया है कि सम्प्रति प्राचीन भारत मे बड़ा प्रभावक शासक हुआ है। इसने अशोक ने जिस प्रकार बौद्धधर्म का प्रचार किया था, उसी प्रकार जैनधर्म का प्रचार किया। धर्म प्रचार के कार्यों की दृष्टि से चन्द्रगुप्त से भी बढ़कर इसका स्थान है।

(११) तीन[2] खण्डों का स्वामी परम प्रतापी कुणाल का पुत्र महाराज सम्प्रति हुआ। यह अर्हन्त भगवान् का भक्त था, इसने अनार्य देशों मे भी जैनधर्म के प्रचारकों को भेजा था तथा जैन मुनियों के लिये विहार बनवाये थे। आर्य सुहस्ति से इसने जिनदीक्षा ली थी।

जीवन गाथा

सम्प्रति[3] ने अपने बाहुबल से अनेक देश-देशान्तरों को जीतकर आधीन कर लिया था। दिग्विजय के पश्चात् यह एक दिन अपने उज्जयिनी के महल के वातायन मे बैठा हुआ था। इतने मे अर्हन्त भगवान् की रथयात्रा का जुलूस निकला, रथ के ऊपरी भाग पर आर्यमहागिरि[4] और आर्यसुहस्ति[5] थे, इन आचार्यों को देखते ही राजा के मन मे विचार आया कि इन्हे मैंने कभी देखा है, इस प्रकार ऊहा-पोह करने पर उसे जाति-स्मरण ज्ञान हो गया और पूर्वजन्म की बाते याद आ गयीं। विचारों मे तल्लीन होने से राजा को मूर्च्छा आ गयी। मन्त्रियों ने वायु-प्रक्षेप और शीतोपचारों से राजा को सचेत किया।

सावधान होकर महाराज सम्प्रति महल से नीचे आया और अपने गुरु आर्य-सुहस्ति की तीन प्रदक्षिणा दीं तथा नमोऽस्तु कर कहने लगा—"प्रभो! क्या आप मुझे पहचानते हैं? आर्य सुहस्ति ने अपने ज्ञानबल से तत्काल ही उसके पूर्वजन्म की

1—Almost all ancient Jain temples or monuments of unknown origin are ascribed by the popular voice to Samprati, who is in fact regarded as a Jaina Asoka' —Smith Early history of India p 202

२—नन्दंशे तु विन्दुसारोऽशोकश्रीकुणालपुत्रस्त्रिखण्डभरताधिप परमार्हतो अनार्यदेशेष्वपि प्रवर्तितश्रमणविहार सम्प्रतिमहाराजश्चाभवत् —विविधतीर्थकल्पे पाटलीपुत्रनगरकल्प पृ० ६९

३—परिशिष्ट पर्व दूसरा भाग पृ० ११५-२४

४—श्वेताम्बर आगम में आर्य महागिरि को दिगम्बर बताया है तथा इन्हे आर्य सुहस्ति का भाई भी माना है। आर्य सुहस्ति आर्य महागिरि की वन्दना करते थे तथा सब प्रकार से उनका सम्मान करते थे।

५—आर्य सुहस्ति अर्द्धफालक सम्प्रदाय के प्रवर्तक थे, क्योंकि श्वेताम्बर और दिगम्बरों का संघ भेद विक्रम संवत् १३९ मे हुआ है। यह अर्द्धफालक सम्प्रदाय दिगम्बर और श्वेताम्बरों की मध्य की चीज था, इसीसे आगे श्वेताम्बर सम्प्रदाय निकला है। आर्य सुहस्ति ने उज्जयिनी मे उस वर्ष चातुर्मास किया था और चातुर्मास की समाप्ति के हर्षोपलक्ष में ही रथयात्रा वहाँ की गयी थी।

सम्राट् सम्प्रति ने राज्य की सुव्यवस्था करने के लिये अपनी राजधानी अवन्ती[1] (उज्जयिनी) मे बनायी थी। राजनैतिक दृष्टिकोण से पाटलीपुत्र मे इतने बड़े साम्राज्य की राजधानी रखने से शासनसूत्र चलाने मे अनेक कठिनाइयों का सामना भी करना पड़ता। एक बात यह भी थी कि प्रारम्भ से उज्जयिनी मे ही सम्प्रति की शिक्षा-दीक्षा भी हुई थी, इसलिये इस स्थान से विशेष प्रेम भी इसका था, अतः उज्जयिनी मे राजधानी स्थापित कर आनन्दपूर्वक शासन करता था। पॉच अणुव्रतों का यथार्थ रीति से पालन करते हुए इसने अनेक धर्म कार्य किये थे।

दिग्विजय के दो वर्ष पश्चात् सम्राट् सम्प्रति सम्यग्दृष्टि श्रावक बनकर संघ सहित तीर्थयात्रा के लिये रवाना हुआ। इसने मार्ग मे कुॅए, धर्मशालाऍ, जिनमन्दिर और अनेक दानशालाएँ स्थापित की थीं। यह संघसहित यात्रा करता हुआ उर्जयन्त गिरि (गिरनारजी) पर पहुचा तथा वहॉ के सुदर्शन नामके तालाब का पुनरुद्धार कराया और शत्रुञ्जय पर जिनमन्दिरों का निर्माण कराया। इसने अपने राज्य मे शिकार खेलने का पूर्ण निषेध करवा दिया था। इसका जीवन पूर्णतया श्रावक का था। इसकी आयु सौ वर्ष की बतायी गयी है।

शिलालेख

यद्यपि वर्तमान मे एक भी शिलालेख सम्प्रति के नाम का नहीं माना जाता है, प्रायः उपलब्ध मौर्यवंश के अधिकांश शिलालेख अशोक के नाम से प्रचलित हैं। पर ईमानदारी के साथ इन शिलालेखों का परीक्षण किया जाय तो दो-चार अभिलेखों को छोड शेष सभी अभिलेख सम्प्रति के ही प्रतीत होंगे। यहॉ पर कुछ विचार-विनिमय किया जायगा, जिससे पाठक उक्त कथन की यथार्थता को सहज हृदयगम कर सकेंगे।

१—पुरातत्त्व विभाग के असि० डायरेक्टर[2]—जनरल स्व० पी० सी० बनर्जी लिखते है कि ये सब शिलालेख, जिनमे यवन राजाओं के नामों का अंगुलि-निर्देश

१—प्राचीन भारत पृ० २१८-२१९ और केंब्रिज हिस्ट्री ऑफ इण्डिया प्रथम पुस्तक पृ० ५६ —१७२ तथा भरतेश्वरबाहुबलि वृत्ति।

२—इण्डियन ऐंटि० ३२ पर तर्क उपस्थित करते हुए इन्होंने लिखा है कि यदि ये सभी शिलालेख अशोक के होते तो उनमे से किसी में भी उन्होंने अपना नाम क्यों नहीं लिखा? प्रियदर्शिन् ने राज्याभिषेक के नौ वर्ष बाद व्रत लिये थे, ऐसी दशा मे उक्त वर्णन अशोक से सम्बन्ध

६—प्रो० हुल्ट्श साहब[1] का मत है कि बौद्धमत की तत्त्वविद्या में आत्मविद्या विषयक जो विकासक्रम बतलाया गया है, उसमें और शिलालेखों की लिपि में धम्मपद विषयक जो विकासक्रम लिखा गया है, अत्यधिक अन्तर है। यह समग्र रचना ही जैनधर्म के अनुसार खोदी गयी है।

७—अशोक के सभी शिलालेख[2] सिकन्दरशाह के समय से लगभग ८० वर्ष बाद के सिद्ध होते हैं और इस गणना से उनका समय ई० पू० ३२३—८० = ई० पू० २४३ वर्ष आता है। पर अशोक की मृत्यु ई० पू० २६० में हो चुकी थी, अतः ये शिलालेख अशोक के कभी नहीं हो सकते। इनका निर्माता जैनधर्मानुयायी सम्प्रति अपर नाम प्रियदर्शिन् ही है।

आन्तरिक परीक्षण

अशोक के शिलालेखों का आभ्यन्तरिक परीक्षण करने पर प्रतीत होता है कि अधिकाश शिलालेख जैन सम्राट् प्रियदर्शिन् उपनाम सम्प्रति के हैं। विचार करने के लिये निम्न प्रमाण उपस्थित किये जा रहे हैं, जिनसे पाठक यथार्थता अवगत कर सकेंगे।

(१) अधिकाश शिलालेखों में 'देवाना[3] प्रिय प्रियदर्शी' आता है। यह प्रियदर्शी न तो अशोक का उपनाम है और न विशेषण ही था। अतः प्रियदर्शी के नाम के सभी शिलालेख सम्प्रति के हैं।

(२) जिन लेखों में अशोक का नाम स्पष्टतः आया है, उनमें बौद्ध धर्म के सिद्धान्त पाये जाते हैं, किन्तु जिनमें प्रियदर्शी का नाम आया है, उनमें जैनधर्म के सिद्धान्त ही वर्तमान हैं। इसी कारण कई ऐतिहासिक विद्वान् अशोक के जैनधर्मानुयायी होने की आशंका करते हैं। वास्तव में बात यह है कि मौर्यवंश में अकेला अशोक ही बौद्धधर्मानुयायी हुआ, शेष सभी पूर्व और परवर्ती सम्राट् जैनधर्मानुयायी ही थे।

(३) पाँचवें शिलालेख में बताया गया है कि "इह ब्राह्मणेषु च नगरेषु सर्वेषु अवरोधनेषु भ्रातृणा च अन्ये भगिनीना एव अपि अन्ये ज्ञातिषु सर्वत्र व्यापृताः[4]" अर्थात् राजा प्रियदर्शिन् ने पाटलीपुत्र नगर एवं अन्यान्य स्थानों में अपने भाई, बहिनों को

१—कोर० इन्स्क्रिप्शन् इंडि के० पु० १ पृ० XLVII

२—सर कनिंगहम् "बुक ऑफ एसियंट इराज पृ० २

३—'देवानाप्रिय' विशेषण का उपयोग प्राय साधु, महाराज, भक्तजन या किसी सेठ के लिये होता था। कभी-कभी पति-पत्नी भी एक दूसरे के सम्बोधन के लिये इसका व्यवहार करते थे।

—कल्पसूत्र की सुखबोधिनी टीका पृ० ४७

४—अशोक-धर्म लेख पृ० १६२

नियुक्त किया था। यदि इस कथन को अशोक के लिए माना जाय तो अनेक दोष आवेंगे। क्योंकि अशोक के सम्बन्ध में प्रसिद्धि है कि उसने अपने एक भाई को छोड़ शेष सभी कुटुम्बियों का निष्कण्टक राज्य करने लिए राज्याभिषेक से पूर्व ही मार डाला था, अतएव शिलालेख में उल्लिखित उसके भाई बहन कैसे हो सकते हैं? प्रियदर्शिन् के भाई, पुत्र और कुटुम्बियों के सम्बन्ध में उल्लेख दिल्ली टोपरा के स्तम्भ लेख नं० ७ में पाया जाता है। अतः प्रियदर्शिन् का ही यह लेख होगा।

(४) चौथे और ग्यारहवें शिलालेख में अहिंसा तत्त्व का वर्णन जैनधर्म की अपेक्षा ही किया गया है। बौद्ध मत में स्थावर जीव—पृथ्वीकाय, जलकाय, अग्निकाय, वायुकाय और वनस्पतिकाय की हिंसा का त्याग कहीं नहीं बताया गया है। यदि ये शिलालेख अशोक के होते तो सजीवतुष को जलाने का निषेध तथा वन में आग लगाने का निषेध कभी नहीं किया जाता। शिलालेखों में अहिंसा का सूक्ष्म वर्णन जैन धर्म के सिद्धान्तों के साथ ही समत्व रखता है, बौद्धधर्म के सिद्धान्तों के साथ नहीं।

(५) परभव के सुख के लिये लेखों में सब प्राणियों की रक्षा, संयम, समाचरण और मार्दव धर्म की शिक्षा दी गयी[1] है। समाचरण और संयम जैनधर्म[2] के आचार के प्रमुख अंग हैं, बौद्धधर्म में इन्हें महत्व पूर्ण स्थान प्राप्त नहीं है।

(६) स्तम्भ लेख नं० ५ में पक्षियों के वध, जलचर प्राणियों के शिकार तथा अन्य प्राणियों के वध करने का अष्टमी, चतुर्दशी और कार्त्तिक, फाल्गुन, एवं आषाढ़ की अष्टाह्निका तथा पर्यूषण पर्व की पुण्यतिथियों में निषेध किया गया है। इस निषेध से स्पष्ट प्रतीत होता है कि इन तिथियों का महत्व जैनों के लिये जितना है, उतना अन्य धर्मावलम्बियों के लिये नहीं। अतः इस आज्ञा का प्रचारक जैन ही हो सकता है। अष्टमी और चतुर्दशी का पर्व तिथियाँ जैन ही मानते हैं बौद्ध और वैदिकों ने नहीं।

(७) जैनधर्म के पारिभाषिक शब्द शिलालेखों में इतने अधिक हैं, जिससे उनके निर्माता को बौद्ध कभी नहीं माना जा सकता। स्तम्भ लेख नं० ६ में पचूपगमन (प्रायुपगमन), शिलालेख नं० ३ में प्राणारम्भ (प्राण अनारम्भ), शिलालेख नं० ५ में कल्प शिलालेख नं० १० गुति (गुप्ति) और समवाय (समवायाङ्ग), स्तम्भ लेख नं० ७ में संयम, भाव शुद्धि और आस्रव, शिलालेख नं० १३ में वेदनीय तथा पञ्चम स्तम्भ लेख

1—सव भूतान अछति, सयम समचरिय मादव च—मशाह शिला लेख १३, पृ० २५०

2—समदा समाचारो सम्माचारो समो व आचारो।
सव्वेसिंहि सम्माण समाचारो दु आचारो।—मूलाचार १२३।७॥

मे जीवनिकाय और प्रोषध (प्रोपधोपवास) आदि शब्द आये है। इन शिलालेखों का निर्माता सम्प्रति उपनाम प्रियदर्शिन्[1] होना चाहिये।

(८) गिरनार के लेख नं० ३ मे 'स्वामिवात्सल्यता' का प्रयोग आया है बौद्ध धर्म की दृष्टि से यह बन नहीं सकता, क्योंकि बौद्धधर्म मे भिक्षु और भिक्षुणी इन दोनों को मिलाकर ही द्विविध सघ होता है, पर जैनधर्म मे मुनि, आर्यिका, श्रावक और श्राविका इन चारो को मिलाने से चतुर्विध संघ होता है। अतः स्वामिवात्सल्यता जैनधर्म की दृष्टि से ही बन सकती है, बौद्धधर्म की दृष्टि से नही।

(९) शिलालेख न० ८ मे संबोधिमयाय एक शब्द आया है, जिसके अर्थ में आजतक विशेषज्ञों को सन्देह है। जैन मान्यता मे यह साधारण शब्द है इसका अर्थ सम्यक्त्व प्राप्ति है। कुछ लोगो ने खींच-तान कर इसका अर्थ जिस वृक्ष के नीचे महात्मा बुद्ध को सर्वोत्कृष्ट ज्ञान की प्राप्ति हुई थी, उस बोधि वृक्ष के नीचे छाया मे जाकर किया है, जो असंगत प्रतीत होता है

(१०) सम्प्रति ने स्तम्भ बनवाये उनपर सिंह की मूर्त्तियाँ इसलिये अंकित करायीं कि यह उनके आराध्य भगवान् महावीर का चिन्ह है तथा सम्यग्दृष्टि के निर्भयपने का सूचक भी है। सिंह की मूर्त्तियाँ और चक्र सम्प्रति उर्फ प्रियदर्शिन् के ही है, क्योंकि इनका निकट सम्बन्ध जैन संस्कृति से है।

शंकाएँ

यदि अशोक का उपनाम या विशेषण प्रियदर्शिन् न माना जाय तो मस्की के शिलालेख मे अशोक शब्द स्पष्ट क्यों लिखा गया है? प्रियदर्शी बौद्धधर्म के यात्रास्थान

१—शिलालेख न० २ और १३ में ऐसे उद्धरण है, जिनमें बताया गया है कि सम्राट् प्रियदर्शिन् के शासन काल मे ग्रीक साम्राज्य के पॉच हिस्से हो गये थे। उनमे जो नाम बताये गये हैं उन पॉचो के आधार पर यूरोपीय विद्वानो ने उनका शासनकाल इस प्रकार निश्चित किया है —(१) ई० पू० २६१—२४६ (२) ई० पू० २८५—२४७ (३) ई० पू० २७४—२४२ (४) ई० पू० २५६ और (५) ई० पू० २७२–२५४ शिलालेखों की खुदाई का समय भले ही बाद का हो पर उपर्युक्त घटना प्रियदर्शिन् राजा द्वारा राज्याभिषेक होने के आठ वर्ष बाद कलिंग जीत लेने से पहले हुई है। ऐसी दशा में यदि अशोक और प्रियदर्शी एक ही हों तो ई० पू० ३२५–८ में अशोक का राज्याभिषेक होने के हिसाब से वह समय ई० पू० ३१७ होता है और इस दृष्टि से विचार करने पर उपर्युक्त पॉच वर्षो में से किसी के साथ भी (राज्य शासन के आरम्भ या अन्त से) उसका क्रम नहीं जुडता है, बल्कि उसके विपरीत वह और ५०-६० वर्ष पहले चला जाता है। इससे सिद्ध होता है कि प्रियदर्शिन् और अशोक ये दोनों एक नहीं, भिन्न व्यक्ति है।

—ना० प्र० प० भाग १६ अंक १ पृ० २२–२३

लुंबिनी और निग्लिवि में क्या गया था ? यदि बौद्धधर्मी न होता तो वह वहाँ क्यों जाता ? अतः प्रियदर्शिन् अशोक का विशेषण या उपनाम है।

समाधान

मस्की के शिलालेख में 'देवानां प्रिय असोकस' आया है, प्रियदर्शिन् का नाम नहीं आया है, अतः यह शिलालेख अशोक का ही है। देवानां प्रिय उपाधि राजाओं के लिये उस काल में व्यवहृत होती थी। इसलिये इस शिलालेख से अशोक और प्रियदर्शी एक सिद्ध नहीं होते हैं। यदि इसमें देवाणां प्रिय प्रियदर्शिन् अशोक, ऐसा पाठ होता तो अवश्य अशोक का दूसरा नाम प्रियदर्शिन् माना जा सकता था।

दूसरी शंका का समाधान यह है कि अशोक की मृत्यु सम्प्रति के राज्याभिषेक के १९ वर्ष बाद ई० पू० २७० में हुई थी, अतः वह एक वर्ष बाद अपने पूज्य पितामह की सांवत्सरिक क्रिया करने के लिये गया होगा। दूसरी बात यह भी है कि राजा सभी धर्मों का रक्षक तथा धर्म सहिष्णु होता है, अतः सम्प्रति ने अन्य स्थानों के निरीक्षण के समान उक्त धर्म स्थानों का भी निरीक्षण और दर्शन किया होगा। अतः शिलालेखों द्वारा सम्प्रति के कार्यों का अनुमान कर उसे यश मिलना चाहिये। वर्तमान में राष्ट्रध्वज और राष्ट्रमुद्रा के लाञ्छन सम्प्रति के ही हैं। भ्रमवश लोग अशोक के समझे हुए हैं।

धर्म प्रचार

सम्प्रति ने जैनधर्म के प्रचार के लिये सवालाख नवीन जैन मन्दिर, दो हजार धर्मशालाएँ, ग्यारह हजार वापिकाएँ और कुएँ खुदवा कर पक्के घाट बनवाये। सवा करोड़ जिन बिम्बों की प्रतिष्ठा कराई तथा छत्तीस हजार मन्दिरों का जीर्णोद्धार करवाया। 'एपीटॉम ऑफ जैनिज्म' में बतलाया गया है कि सम्प्रति महान् और जैन धर्मानुयायी था। इसने धर्म की वृद्धि के लिये सुदूर देशों में धर्म का प्रचार कराया अनार्य देशों में संघ का विहार कराया तथा अपने आधीन सभी राजाओं को जैनी बनाकर जैनधर्म के प्रचारकों को सब प्रकार से सहयोग दिया।

1—Samprati was a great Jain monarch and a staunch supporter of the faith He erected thousands of temples throughout the length and breadth of his vast empire and consecrated large number of images He is stated further to have sent Jain missionaries and ascetics abroad to preach Jainism in the distant countries and spread the faith amongst the people there

—An Epitome of Jainism Appendix A p v

खरतरगच्छावली में भी सम्प्रति के कार्यों का उल्लेख करते हुए बताया गया है कि जैन साधुओं को धर्म प्रचार के लिये राजदूत बनाकर विदेशों में भेजा गया था। मालगुजारी वसूल करने का कार्य भी प्रायः जैन साधु करते थे, ये साधु सातवीं प्रतिमा के धारी होते थे।

सम्प्रति के धर्म प्रभावना के कार्यों का निरूपण करते हुए कहा गया है कि यह सम्राट् रथयात्रा में साथ रहता था तथा नाना प्रकार के पुष्पहार, तोरण, मालाओं आदि से रथ को सज्जित कर भगवान जिनेन्द्र की सवारी गाजे-बाजे के साथ निकालता था। इसने अपने आधीनस्थ राजाओं को आदेश दिया[2] था कि यदि आप लोग मुझे अपना स्वामी मानते हैं तो जैन साधुओं का सम्मान करें, चतुर्विध संघ का आदर करें। मुझे दण्ड द्वारा द्रव्य की आवश्यकता नहीं है। अपने-अपने राज्य में अभयदान करें, अहिंसा धर्म का प्रचार एवं पालन कर अपना कल्याण करें। चतुर्विध संघ को तथा विशेषतः जैन साधुओं को शुद्ध आहार, पात्र तथा अन्य आवश्यकता की वस्तुएँ दान में दें।

सम्राट् सम्प्रति ने अरब, ईरान, सिंहलद्वीप, रत्नद्वीप, महाराष्ट्र, आन्ध्र, कुडुघ आदि देशों में जैनधर्म का प्रचार कराया था। इसके द्वारा निर्मित मन्दिरों में गुजरात और राजपूताने में कुछ मन्दिरों के ध्वंश अब भी वर्तमान हैं। कर्नल टॉड[3] ने लिखा है कि "कमलमेर का शेष शिखर समुद्रतल से ३३५३ फीट ऊँचा है। यहाँ से मैंने मरुक्षेत्र के बहुदूरवर्ती स्थानों का भ्रान्त निश्चय कर लिया। यहाँ ऐसे कितने ही

१—येन सम्प्रतिना साधुवेषधारी-निज-किंकरजनप्रेषणेन अनार्यदेशेऽपि साधुविहारं कारितवान्।

—खरतरगच्छावलि संग्रह पृ० १७

२—जति म जाणइ सामिं, समणाण पणमहा सुविहियाणं।
दव्वेण मे न कज्ज, एय खु पिय कुणह मज्झ॥

यदि मां स्वामिन यूय जानीथ मन्यध्वे तत श्रमणप्रणामनादिकं मम प्रियं तदेव यूयं कुरुत।

वीसज्जिया य तेण, समण वोसावण सरज्जेसु।
साहूण सुहविहारा, जाता पच्चतिया देसा।

समणभडभाविए सु, तेसु रज्जेसु एसणादीसु।
साहू सुह विहरिया तेण वि य भद्दगा तेउ॥
उदिणजोहाउलसिद्धसेणापडिद्धितो णिज्जियसत्तुसेणो।
समततो साहुसुःप्पयारे अकासि अधे दविले य घोरे॥

--अभिधान राजेन्द्र भाग ७ पृ० १९९–२००

३—हिन्दी टॉड् राजस्थान पहला भाग द्वि० खं० अ० २६ पृ० ७२१–२१

दृश्य विद्यमान हैं, जिनका समय अंकित करने में लगभग एक मास का समय लगने की संभावना है। किन्तु हमने केवल उक्त दुर्ग और एक बहुत पुराने जैन मन्दिर का चित्रांक समाप्त करने का समय पाया था। इस मन्दिर का गठन प्रणाली बहुत प्राचीन काल के समान है। मन्दिर के बीच में केवल खिलान युक्त ऊँची चोटी का निम्रह कक्ष (कमरा) है और उसके चारों ओर स्तम्भावलि शोभित गोल बरामदा है यह निश्चय ही जैन मन्दिर है"। कथन से स्पष्ट है कि यह मन्दिर ई० पू० २०० से भी पहले का है, टॉड साहब ने आगे भी इस बात को स्वीकार किया है। अतः यह सम्प्रति का बनाया हुआ बताया जाता है।

सम्प्रति ने कई पिंजरापोल पशुरक्षण के लिये खुलवाये थे। गुजरात में इस प्रथा का शेष चिन्ह आज भी वर्तमान है। इसके धर्म प्रचार का उल्लेख श्वेताम्बर साहित्य में ही पाया जाता है, दिगम्बर साहित्य में नहीं। सम्प्रति ने जैन साधुओं की धर्म प्रचार में सब प्रकार से सहायता की थी[१]। इसलिये राजकीय आश्रय को पाकर जैनधर्म खूब उस काल में फैला। लोकोपकारी कार्य भी इसने अनेक किये। आहारदान, ज्ञानदान, औषधदान और अभयदान भी इसने अपने जीवन में खूब दिये। राजनीति में अहिंसा का प्रयोग भी खूब किया। इसने अनार्य देशों में जैनधर्म के प्रचार के लिये सेना के योद्धाओं को साधुओं का भेष बनाकर भेजा था। अपने प्रिय जैनधर्म के प्रसार में इसने सभी संभव उपायों से काम लिया था[२]।

१—जैनिज्म इन नार्थ इण्डिया पृ० १४४ १४५

२—इत्यधिकार्य्य धर्मविचार सम्प्रतिभूपतिवृत्तमुदारम्।
सद्गुरुमर्हतामिवबहुमानं भव्यजना दधता बहुमानम्॥ —दर्शनशुद्धि गा०६६

दक्षिण भारतीय इतिहास का एक क्रान्तिपूर्ण अध्याय

[ले०—श्रीयुत ज्योतिप्रसाद जैन एम० ए०, एल०एल० बी०]

गतांक से आगे

उत्तर दिशा में तैलप का द्वन्द्व परमार नरेश मुञ्ज वाक्पति द्वितीय से हुआ। मुञ्ज का राज्यारोहण सन ९७४ (वि० सं० १०३१) में हुआ था, अर्थात् तैल की उन्नति प्रारम्भ के एक वर्ष के भीतर ही और उसका अधिकांश जीवन युद्ध क्षेत्र में ही व्यतीत हुआ। तैलप पर किये गये उसके आक्रमणों के वृत्तान्त भिन्न भिन्न मिलते हैं। श्वेताम्बराचार्य मेरुतुङ्गकृत प्रबन्ध चिन्तामणि में तैलप द्वारा मुञ्ज के भाग्यान्त का बड़ा ही रोमाञ्चक वर्णन किया हुआ है कहा जाता है कि मुञ्ज ने तैलप को ६ बार युद्ध में पराजित किया, और किसी किसी के मतानुसार १६ बार। किन्तु अन्तिम बार जब वह दुर्भाग्यवश, अपने परम बुद्धिमान मन्त्री रुद्रादित्य के समझाने और प्रेरणाओं के बावजूद भी गोदावरी को पार करके कर्णाटक में आ घुसा तो पराजित हुआ और तैल के हाथों बन्दी हो गया। उसे सुदृढ पहरे में रक्खा गया। मेरुतुंग का कथन है कि उस अवस्था में तैलप की बहिन मृणालवती से उसका प्रेम हो गया और मृणाल को उसके बन्दीखाने से निकल भागने का इरादा तथा योजनाएँ मालुम हो गईं, जिन्हें वह अपने भाई तैलप से न छिपा सकी। फलस्वरूप तैलप ने उसे निर्दयता पूर्वक मरवा डाला[1]।

इसमें सन्देह नहीं कि मुञ्ज का अन्त तैलप के साथ हुए दक्षिणी युद्धों में ही हुआ। तैलप के सन् ९८२ के नीलगुंड शिलालेख के अनुसार तैलप ने उत्पल को बन्दी किया था[2]। तैलप के वंशज अपने अभिलेखों में इसी लेख के तत्सम्बन्धी श्लोक को दुहराते मात्र हैं, इस विषय की कोई अन्य विशेष सूचना नहीं प्रदान करते. इन अभिलेखों में मुञ्ज का उल्लेख उत्पल नाम से किया है। डा० गांगुली महाशय ने मुञ्ज और उत्पल का अभिन्नत्व स्पष्टतया स्थापित कर दिया है[3]। किन्तु तत्कालीन लेखों में तैलप के हाथों मुञ्ज के मारे जाने का कहीं कोई उल्लेख नहीं मिलता। मृणालवती की कहानी भी मनगढन्त ही मालुम होती है, चालुक्य लेखों से उसका समर्थन नहीं होता। किसी लेख में भी तैलप की किसी बहिन का उल्लेख नहीं है, चालुक्यों की वंशावलियों में भी उसका कहीं नाम नहीं मिलता, तैलप अपने माता पिता की इकलौती सन्तान ही प्रतीत होता है। मेरुतुंग (सन् १३०८ ई०) लगभग ३०० वर्ष पीछे का लेखक है, अतः यह मृणालवती की कहानी या तो उसकी स्वयं की कल्पना है अथवा उसने तैल और मुञ्ज इन दो प्रख्यात वीरों के सम्बन्ध में बाद को प्रचलित हो जाने वाली दन्त कथाओं का आश्रय लिया। नागमनगर दानपत्र के

१—मेरुतुंग-प्रबंध-चिन्तामणि।

2—E I—IV p 206, ll-7, 8, 9.

3—A History of the Parmavas-p. 47.

९९४–९९७ के बीच किसी समय अन्तिम निर्णायक युद्ध हुआ, जिसमें मुंज मारा गया।

इसमें सन्देह है कि तैलप ने गुजरात प्रान्त, विशेष कर उसका दक्षिणी प्रदेश लाट विजय किया था या नहीं। अन्हिलवाड़ के सोलंकी उस समय उस प्रदेश पर शासन कर रहे थे। मूलराज प्रथम (९६८–९९७ ई०) उसका स्वामी था। 'रासमाला का कथन है कि गुजरात पर तैलप के सेनानी तैलङ्गाने के अधिपति बारप ने आक्रमण किया था। किन्तु यह बारप वास्तव में कौन था इस विषय में बहुत गड़बड़ है, 'कीर्ति कौमुदी' के अनुसार यह लाटदेश का सेनानी था और 'सुकृत संकीर्तन' के मतानुसार कर्नाट नरेश था। कीर्तिराज के सन् १०१८ के सूरत से प्राप्त दानपत्र में तथा त्रिलोचनपाल के सन् १०१५ के दानपत्र में उसे कीर्तिराज का पितामह बताया है। उपर्युक्त सोगल अभिलेख के अतिरिक्त तैलप की लाट विजय के भी अन्य उल्लेख नहीं मिलते।

रन्न के अनुसार नागदेव ने करहाट देश पर भी आक्रमण किये थे और युद्धभूमि में प्रतिपक्षीदल के किसी मल्ल नामक बली व्यक्ति का पीछा करके रणभूमि में खदेड़कर महाराज तैलप को प्रसन्न किया था[1]। रन्न ने तैलप देव के पलिध्वज, भद्र, करकलिंग आदि और भी कितने ही प्रदेशों को विजय करने का उल्लेख किया है। वास्तव में ये स्थान अभी तक जाने नहीं जा सके और निश्चय पूर्वक यह भी नहीं कहा जा सकता कि ये स्थान नाम हैं या व्यक्ति विशेषों के नाम। किन्तु उसके अभिलेख आदिकों से यह स्पष्ट है कि उसने राष्ट्रकूटों द्वारा अधिकृत सर्वदेश अपने आधीन कर लिया था। वह कुन्तल और नरपति का भी अधीश्वर था, ऐसा कथन है। गोदावरी उसके राज्य की उत्तरी सीमा थी, उसके तटपर उसके सैनिकों के युद्ध करते रहने का उल्लेख है[2]। यह नहीं कहा जा सकता कि वह मुलवाड उसके साम्राज्यान्तर्गत था या नहीं, किन्तु यह स्पष्ट है कि अरिकेसरी वंश समाप्त हो चुका था. वर्णनैतक मेरुतुङ्ग ने प्रबन्धचिन्तामणि में उसे तैलङ्गाने का अधीश्वर लिखा है।

यद्यपि कालान्तर में इस उत्तरकालीन चालुक्य वंश की राजधानी के कल्याणी में होने के प्रमाण मिलते हैं, तथापि इस समय उसकी राजधानी मलखेड ही रही प्रतीत होती है। मारसिंह की मृत्यु के पश्चात् ही किसी समय तैलप ने उसपर पुनः अधिकार कर लिया जान पड़ता है, कमसे कम सन् ९९३ में वह उसके वस्तुतः अधिकार में थी[3]। तैलप जैसा महान् शक्तिशाली सम्राट् अपने साम्राज्य के हृदयस्थान में स्थित उस महानगरी को शत्रुओं के हाथों में नहीं रहने दे सकता था। महाप्रतापी तैलपदेव ने जिसका कि विशेष विशद आहवमल्ल था, लगभग पच्चीस वर्ष पर्यन्त राज्य किया और उसके पश्चात्, सन् ९९७ ई० के लगभग उसका सुयोग्य पुत्र युवराज सत्याश्रय इरिव बेडेंग आहवमल्ल सिंहासनारूढ हुआ।

1—Ajitapurana-I 45.

2—B K I—I 76

3—B K—170 of 1933-34.

इस प्रकार लगभग ७५ वर्ष के पश्चात् फिर से प्राचीन चालुक्य वंश का पुनरुत्थान हुआ और लगभग २०० वर्ष पर्यन्त वह अपनी शक्ति और समृद्धि बनाये रखने में समर्थ रहा। किन्तु जैसा सालतोर महोदय के शब्दों में[1], कर्णाटक राज्यसत्ता की यह एक बड़ी प्रशंसनीय एवं महत्वपूर्ण विशेषता रही कि उसने देश की प्रशस्त परम्परा का पूर्ववत् निर्बाध जारी रक्खा। यही कारण है कि जहाँ तक जैनधर्म का सम्बन्ध है, इन पश्चिमी उत्तरकालीन चालुक्य नरेशों ने भी उक्त धर्म के साथ वही श्रद्धा एवं उदारतापूर्ण बर्ताव बनाये रक्खा जो कि गंगों, कदम्बों, राष्ट्रकूटों आदि ने अपने समय में रक्खा था। प्रारम्भिक पश्चिमी चालुक्य सम्राट् पुलकेशी महान् प्रथम एवं द्वितीय, (६वीं ७वीं शताब्दी), विनयादित्य (६८० ६९६), विजयादित्य सत्याश्रय (६९६ ७३३ ई०) इत्यादि तो जैनधर्मानुयायी थे ही, १० वीं शताब्दी के अन्त में इन नवोदित चालुक्य नरेशों का जैनधर्म के प्रति झुकाव और भी विशेषरूप में लक्षित होता है। सम्राट् तैलप देव द्वितीय स्वयं जैनधर्म के बड़े भक्त थे, इस बात का एक भारी प्रमाण शक ९१४ (सन् ९९२-९९३ ई) का धारवाड़ जिलान्तर्गत हुबली तालुके के कागली स्थान में स्थित चेन्नपार्श्व बसदि का शिलालेख है जिसमें तैलपदेव के चोल सम्राट् को पराजित करने का भी उल्लेख है[2]। सम्राट् तैलपदेव ने कन्नड जैन महाकवि 'कविरत्न' रन्न (रत्नाकर) को जिसने कि ९९३ ई० में अपना प्रसिद्ध ग्रंथ 'अजितपुराण' जो कि 'पुराण तिलक' भी कहलाता था समाप्त किया था 'कन्नड कवि चक्रवर्ती' की उपाधि देकर सम्मानित किया था और उसे अपने आश्रय में रक्खा था[3]। इस जैन महाकवि की अन्य रचनायें 'साहसभीमार्जुन', 'रन्न कान्द', गदायुद्ध आदि हैं। चालुक्यों से आश्रय प्राप्ति के पूर्व कवि वीर चामुण्डराय तथा गंगराज मारसिंह का आश्रित था। जैन के सन् ९९३ में अङ्कित मैसूर जिलान्तर्गत सामसमुद्र ग्राम के शिलालेख में लिखा है कि उक्त स्थान में लोकेश्वर द्वारा निर्मित ताल के लिये जो सिंचित भूमि (Tanable land) का दान किया गया है उसका अतिक्रम या भंग करने वाला व्यक्ति वैसा ही पातकी एवं दण्डनीय समझा जायगा जैसे कि एक बसदि (जिनालय), काशी, अन्य देवालय, अथवा उक्त ताल को ही हानि पहुँचानेवाला[4]।

तैलपदेव के उत्तराधिकारी उसके वीरपुत्र सत्याश्रय इरिवबेडंग ने सन् ९९७ से १००९ ई० तक राज्य किया[5]। यह जैनधर्म का अपने पिता से भी अधिक उत्साही भक्त था। इसने अपने एक जैनगुरु की मृत्यु पर उनकी पुण्य स्मृति में एक भव्य निषधा उसी स्थान में निर्माण

1—Sal tore—Med Jainism p 41

2—36 of 1904

3—Kavichante I p 63 also E C II. Int o p 75 but here Taila II is wrongly stated as Taila III

4—M A R for 1931 p 139

5—Rice—My & Cg p 73

कराई बताई जाती है जो कि एक ऐसे महान् राजवंश के संस्थापकों की जन्मभूमि थी, जिनकी कि कर्णाटक में चालुक्यों के पश्चात् स्थापना हुई। सम्भवतया यह स्थान भावी होयसल साम्राज्य के आदि प्रवर्तक की जन्म भूमि अगादि थी जो इस समय चालुक्यों के अधिकार में थी। इरिव के गुरु कुन्द कुन्दान्वय, पुस्तकगच्छके त्रमिलसंघी भट्टारक (मैसाल मुनि) के शिष्य निर्ग्रन्थाचार्य विमल चन्द्र पंडित देव थे। उनकी मृत्यु सन् ६६८-१००० के लगभग हुई थी[1]। इरिव के पश्चात् में जयसिंह तृतीय (१०१८-१०४२ ई०) चालुक्य वंश में जैनधर्म का विशेष उत्साही भक्त हुआ, उसने अनेक जैन विद्वानों और आचार्यों को आश्रय एवं प्रोत्साहन प्रदान किया। 'मल्लिकामोद' उसका विशेष विरुद था और बलिपुर की प्रसिद्ध 'मल्लिकामोद शान्तीश' बसदि का वह निर्माण कर्त्ता था[2]। इस वंश के सोमेश्वर प्रथम तथा द्वितीय आदि प्रायः सभी नरेश परम निष्ठावान भव्य जैनी थे और विल्हण के विक्रमाङ्क चरित का नायक विक्रमादित्य VI त्रैलोक्यमल्ल तो था ही कट्टर जैन था। किन्तु तैलप देव के वंशजों के कार्यकलापों का विवरण इस लेख में असंगत होगा, वह स्वतंत्र लेख का विषय है।

इस तैलप के ही समकालीन और उसके परिवार के ही एक सदस्य सरीखी धर्म और साहित्य की उत्कृष्ट सेविका आदर्श जैन महिला अत्तिमब्बे देवी का उल्लेख इस प्रसंग में आवश्यक है। यह नारीरत्न तैल के महासेनापति मल्लप्प की पुत्री थी, उसके प्रधान सहकारी एवं महामंत्री धल्ल की पुत्र-वधू थी। अनेक युद्धों के विजयी वीर और युवराज सत्याश्रय के परममित्र शूर शिरोमणि नागदेव की धर्मपत्नी तथा प्रतिष्ठित राज्याधिकारी पडुवेल तैल की जननी थी। ऐतिहासिक जैन नारी संसार में वह एक चमकता हुआ रत्न है। इस विदुषी देवी ने उस १० वीं शताब्दी ईस्वी में 'उभयभाषाकवि चक्रवर्ती' महाकवि पोन्नकृत शान्तिपुराण की १००० प्रतियाँ स्वयं अपने व्यय से तैयार कराकर वितरित की, महाकवि रन्न को 'अजितनाथ पुराण' जैसे महान ग्रन्थ रचने की प्रेरणा की, सुवर्ण और बहुमूल्य रत्नों की १५०० जिनप्रतिमायें निर्माण कराई। अनेक जिनमन्दिर निर्माण कराये, अनेकों मन्दिरों का जीर्णोद्धार कराया, आहार, औषध, विद्या, अभय रूप चतुर्विध दान में जी खोलकर प्रवृत्त हुई। उसके सतीत्व के प्रभाव से गोदावरी का जल प्रवाह रुक गया था, यह प्रसिद्ध है। अपने पवित्राचरण, धार्मिक निष्ठा, शीलसंयम, लोकोपकार धर्मप्रभावना, आदि गुणों के कारण आनेवाली पीढियों के लिये यह देवी एक अनुकरणीय आदर्श हो गई थी[3]। श्रवणबेलगोल आदि स्थानों के विविध शिलालेखों से स्पष्ट है कि जब जब जो व्यक्ति, स्त्री ही नहीं पुरुष भी, अपने गुणोत्कर्ष एवं धार्मिकता के लिये आदर्श समझा गया

1—E C VI Mg II, p 60 also Intro p 13, and M A R. for 197 p 7.

2—Saletore--Ibid p 43

3—Saletore--Ibid p 156-157, also Rice-Karnataka Sabdanusasanam Intro p 28-29, J R A S for 1883 p 301-302

इसे 'यह अपने इन विशिष्ट गुणों के कारण दूसरी अत्तिमब्बे है' ऐसा कहा गया। साथ ही राजकुमारी पद्मा देवी की कथा और विक्रमादित्य सान्तार की माता चट्टलदेवी, प्रसिद्ध उच्च राज्याधिकारी वंश में उत्पन्न महामन्त्री मारसिंह दण्डनाथ की धर्मपत्नी लाक्कलदेवी, मरियाने दण्डनायक की पुत्री, वीर शान्तिमय्या की धर्मपत्नी और प्रसिद्ध महासेनापति शान्तियण्ण की माता जक्कलदेवी इत्यादि विशिष्ट विशिष्ट गुणवान धर्मपरायण देवियों की अत्तिमब्बे की उपमा दी गई। स्वयं सम्राट् विष्णुवर्धन होयसल के महासेनापति प्रचण्ड वीर एवं जैन प्रसिद्ध योद्धा गङ्गराज की तुलना अत्तिमब्बे से की गई, प्रशस्ति लेखक का कथन है कि वीर शिरोमणि धर्मात्मा गङ्गराज को देवी अत्तिमब्बे के समान बता कर उसने उनकी प्रशंसा को चरम सीमा पर पहुँचा दिया अब और कुछ कहना शेष नहीं'[1]।

ऐसा अनुपम देवी रत्न को अपनों में गिनने का जिस तैलपदेव को सौभाग्य प्राप्त हुआ, जो उनकी राज्यश्री एवं सौभाग्यश्री की साक्षात् प्रतीक थी, जो नारी जगत की तिलक रूप, देश और युग का सर्व श्रेष्ठ भूषण थी फिर उन महाराज तैलपदेव के चमत्कारिक उत्कर्ष, उनके साम्राज्य की समृद्धि और अभिवृद्धि तथा उनके द्वारा पुनः स्थापित महान चालुक्य वंश के विकास, उन्नति एवं चिर स्थायित्व में क्या सन्देह था।

नोट —प्रस्तुत लेख में जहाँ दक्षिण भारत के इतिहास की एक महान् राज्यक्रान्ति का उल्लेख तत्सम्बन्धी घटनाओं का विश्लेषण, एक महान् साम्राज्य संस्थापक का शृङ्खलाबद्ध राजनैतिक इतिवृत्त सम्बद्ध पात्रों का चरित्र चित्रण, ठोस प्रमाणिक ऐतिहासिक आधारों पर हुआ है, वहाँ इससे यह भी स्पष्ट हो जाता है कि उस युग में विवेचित प्रदेश में जैनधर्म की कैसी स्थिति थी, प्रायः सब ही बड़ा शक्तिशाली राजवंशों, सामन्तवंशों, राज्याधिकारियों आदि का कुलधर्म जैनधर्म ही था ऐसा प्रतीत होता है। सम्राटों से लेकर साधारण व्यक्ति तक इसी धर्म के अनुयायी थे तथा विविध वर्गों का जैन जनता, प्रतिष्ठित जैन व्यक्ति स्त्री पुरुष, जैन विद्वान्, जैन आचार्य, जैन संस्थाएँ लोकहित देशहित के कार्यों में पूर्ण प्रशस्त योगदान करते रहते थे, देश की सर्वतोमुखी सांस्कृतिक अभिवृद्धि कर रहे थे यह सब भली प्रकार विदित हो जाता है। साथ ही जैन साहित्य, अभिलेखादि एवं प्रमाणाधारों की प्रचुर उपयोगी जो स्वतन्त्र प्रमाणों से पूर्णतया समर्थित एवं पुष्ट होता है यह सिद्ध करता है कि बिना इन जैन आधारों के समुचित उपयोग के भारतीय इतिहास का शृङ्खलाबद्ध प्रमाणिक निर्माण हो नहीं सकता, अतः इनकी अवहेलना विद्वान् इतिहासज्ञों एवं इतिहासकारों के लिये घातक है।

1—E C II Cg no 240 p 107 & जैन शिलालेख संग्रह, लेख नं० ५९, १२ १४१

कलिंगाधिपति खारवेल

[श्री० प्रो० गोरावाला खुशालजैन एम० ए०, साहित्याचार्य, आदि]

गतांक से आगे

मूल

पंक्ति १२—

मगधानं च विपुल[1] भयं जनेतो हा[ ]थ स गांगीय[2] प्रायपति[3] [।] म[ग]धा च राजानं वहपति मित्र[4] पादे वंदापयति[5] [।] नन्दराज नीतानि[6] अग जिनस[7] नगगह रतन[8] पडिहारेहि[9] अग मागधे[10] वसवु नेयाति[11] [।]

पंक्ति १३ —

त जाठर लेखिल [ ] न[12] वरानि सिहरानि निवेसयति सत वसु[13]

भाषा

···· मगध की जनता में भीषण भयका संचार करता हुआ अपने हाथियोंको गांगेय प्रासाद[1] में प्रवेश[2] कराता है[3] [।] तथा मगधराज बृहस्पति मित्र[4] द्वारा चरणों में प्रणाम कराता है [।] नन्दराज द्वारा अपहृत अग्रजिन[5] (प्रथम तीर्थकर) की मूर्ति को विजित सम्पत्तिरूपसे[6] गृहसम्पत्ति[7] तथा अंग और मगध के बहुमूल्य धनको[8] भी घर वापस लाता है (,)

उपायन तथा विजित धन[10] रूप से प्राप्त सैकडों[11] बहुमूल्य वस्तुओं के भीतर खुदे

१—शिला में इसके बाद छिद्र है।

२—ब्यू० 'गांगायम्' पाठ दिया था जैस० 'गगा' पढते हैं।

३—जैस० पाययति।

४—जैस० "मागध च राजान वहसतिमित्र", ब्यू० बहुपतिमातित बन० 'बहुपतिमित्र

५—रिक्त स्थान है।

६—ब्यू० नीनस।

७—जैस० 'नीत कलिंगजिन सन्निवेश

८—नवीन पाठ है।

९—बूलर ने पढा था।

१०—ब्यू० 'पडिहारहिअ'

११—ब्यू० "वसिवु नगरि" बन० वासिवुनेयात्", जैस०

१२—ब्यू० 'लेखिल' बन० 'जाठर ब्यू० का 'विनधरु, अशुद्ध पाठ है।

१३—जैस० केवल लेखिल पढते हैं। ब्यू० 'वसदान', बन० 'वसुदान।

१—तक्षशिला-गंगाम्बी-नक्केवाले मार्ग से आना होगा।

२—पिलाता है अर्थ असम्बद्ध है।

३—नदी पार कराता है अर्थ भी जैस० करते हैं।

४—'बहसति मित्र' ही पढना ठीक है। यह शुंग राजा था यह कहना कठिन है। व्यक्तिवाचक इतना ही अभी कहना उचित होगा।

५—अग्रजिनको लेकर काफी विवाद चला है किन्तु जैस० के मत से कलिंगजिन है। जो कि अधिक उपयुक्त भी प्रतीत होता है।

६—लूटका धन या भेंट-से तात्पर्य है।

७—कोई भी बहुमूल्य वस्तु से तात्पर्य है।

८—पडिहारेहि = बारम्बार।

१०—'विजितधन' या = 'विजय चिन्ह'

११—ब्यू० या सातवर्ष का उपायन अर्थ भ्रान्ति मूलक।

मूल

पंक्ति १५

' सुक्त समण' सुविहितानु च सत दिशानु खतिय तपस सह[२] यानु [३] अरहत निसीदिया समीप पभरे[४] वर कारु सुमुथ पतिहि[५] अनेक योजनाहि सिल ह स प थ (?)[६]

पंक्ति १६ —

पटालको चतुरे चु [७] वेडुरियगभे थभे पटिठापयति [,] पान = अंतरिय[८] सठि वस[९] राजा मुरियकाले वोच्छिने च छेयठि अरगसिति कटारियम्[१०] उपादियति[११]

भाषा

वृपभोंको[१] ' जैसे कि जीवदेव[२] के समय में · · [३]।

विविध श्रमणों की सुखचर्या के लिये सैकडो दिशाओं से आनेवाले क्षत्रिय यतियों[४] के सम्मेलन के लिये वह अर्हत् निषिद्रिका के निकटस्थ पर्वत पर श्रेणियों के नामको उत्तम शिल्पियों तथा विविध कर्मकरों को लगाकर पाषाण · बनवाता है[५] [६]

भीतर से वैडुर्य मणि निर्मित चार खभो[७] के ऊपर मंडप बनवाता है। राजा मुरिय[८] के समय के एकसौ

१—ल्यू० 'सकत समाया प्रकृत वन० जैस० सुविहितान च सत दिसान (वनिन)'।

२ ल्यू० के समय मे पाठ्य था।

३—ल्यू० 'सहतान' जैस० 'सनयानु'

४—'प्रभरे' जैस० की दृष्टि से सम्मत है।

५—वन० 'पितिहि'। ल्यू० 'पतिहि'।

६—जैस० ञातान तनम इमिन सघयानु' अनेक योजनाहिताहि सिलाहि सिह यथा राजिय घुसिय निसयानि'

७—ल्यू० 'पटाल के चेतके च'। प्रकृत वन० जैस०

८—ल्यू० 'पनतरिय' जैस० 'पानतरिया सतसहसेहि'।

९—दूसरे अक्षरो की अपेक्षा 'ठि' छोटा है। कनि० ने इसे 'च' पढा था। 'वस पर्यन्त-कनि० तथा ल्यू० नहीं पढ सके थे।

१०—ल्यू० वनने 'वाछिने' पढा था। ल्यू० 'चोयठ अग-सतिकुलनरिय'। वन' सतिकुतुरिय,

११—एक भाग भग होने से 'ति' 'दि' के समान लगती है। ल्यू० वन० ' उपादयति 'उपादायति' पढा है। जैस० "मुरियकाल वोछिन च चोयठि-अगसतिकतरिप उपादायति।' पढते हैं।

१—ऋषभदेव का चिन्ह होने से पिंजरा पोलकी तरह पाले जाते होंगे। या ग्राम, मकान आदिकी तरह भेंट मे आये होंगे।

२—अज्ञात राजा।

३—जैस० के पाठानुसार ' पवित्र उदयगिरि पर स्थित निषिद्रिका के पास पाप तथा क्षेम कार्यों मे सक्रिय रूप से व्यस्त याचकाचार्यो को खारवेल द्वारा आगत राजकीय भरण व्रत के उद्यापन पर दिया जाता है जहाँ पर जिनका धर्मचक्र पूर्ण प्रतिष्ठित है तथा श्री जविदेव के समान गृहस्थाचार का पालन होता है।"

४—'सुमुथपति' शब्द है।

५—'पतिठापयति' क्रिया आगे है।

६—जैस० के पाठानुसार—'यहाँ पर शास्त्र-चक्षु, विवेकपूर्ण, तपःपूत, कृतकृत्य श्रमणों के लिये सभा भवन बनवाया था। निषिद्रिका के पास पर्वत पार्श्व पर सिंहप्रस्थकी रानी धृष्टि के लिये योजना दूरकी सुकानो से निकले पत्थरो की धर्मशाला बनी थी

७—ल्यू० ने भ्रान्ति के कारण 'पटालक' चेतक और वैडुर्यगर्भ गुफाएँ अर्थ किया था।

८—मुर या मुराका पुत्र चन्द्रगुप्त मौर्य।

खारवेल के कालनिरूपण की वस्तुस्थिति

[लेखक—श्रीयुत एन० एन० घोष]

ऐतिहासिक दृष्टि से कलिंग—नृपति खारवेल का स्थान महत्वपूर्ण है। पुरी जिलान्तर्गत भुवनेश्वर के निकट उदयगिरि की पहाड़ियों में प्राप्त हाथीगुम्फा के लेख के आधार पर उनके विषय में बहुत कुछ अन्वेषण किया जा चुका है। इस निबन्ध का उद्देश्य उनके समय-निरूपण की विवाद ग्रस्त समस्या पर प्रकाश डालना है।

डा० भगवान लाल इन्द्राजी ने सन् १८८० में टिप्पणी और अनुवाद के साथ सम्पूर्ण शिलालेख की प्रतिलिपि प्रस्तुत की जिसमें पहले के प्रयत्नों में पर्याप्त उन्नति हुई। शिलालेख की १६ वीं पंक्ति में मुरियकाल का उल्लेख पाकर इन्द्राजी ने खारवेल का समय उसीके आधार पर निश्चित किया है। १६ वीं और १७ वीं पंक्तियों को एक ही वाक्य मानकर उन्होंने अपना अर्थ स्पष्ट किया, जो निम्न प्रकार से है—

"क्षेमराज के पुत्र वृद्धिराज और उनके पुत्र भिक्षुराज के आत्मज, राजमुनियों के वंश में उत्पन्न, विजयी और आदर्श राजा खारवेल ने, जो सभी गुणों में दक्ष हैं इत्यादि मौर्य राजाओं के एक सौ पैंसठवें वर्ष में इसका निर्माण करते हैं (गुफा के वास्तुनिर्माण के विषय में) जब तक एक सौ चौंसठ वर्ष बीत चुके थे। भिक्षुराज और वृद्धिराज को सम्बन्ध कारक में मान कर उन्होंने जो वंशक्रम दिया है उसे मैं ठीक नहीं समझता अतः यहाँ पर मुझे केवल खारवेल के समयानुक्रम से मतलब है। उन्होंने वोच्छिने शब्द को, जो उनके पाठ के अनुसार कोयठि अग सक्तिटारियम् के पहले आता है, विच्छिने मान कर पानतरिय सठिनससते का अर्थ लगाया है इसी पाठ के अनुसार वे किसी मौर्य संवत् की कल्पना करते हैं जिसे वे अशोक के राज्यकाल के आठवें वर्ष में अर्थात् २६३ पूर्वेस में आरम्भ हुआ मानते हैं। इसी आधार पर वे अपना समय इस प्रकार निश्चित करते हैं। मौर्य संवत् का प्रारम्भ २६३—८ =२५५ पूर्वेसा गुफा निर्माण—२५५—१६५=९० पूर्वेसा खारवेल के राज्य के तेरहवें वर्ष में होने के कारण उसका राज्यारोहण समय ९०+१३=१०३ पूर्वेसा उसका युवराज्य काल नौ वर्ष पहले ११२ ई० पू० और उसका जन्म २४ वर्ष पूर्व १२७ ई० पू०। मौर्य्य संवत् की वास्तविकता में इन्द्राजी को स्वयं ही सन्देह है और उन्होंने इस समयानुक्रम का अनुमान संदिग्ध आधार पर ही किया है। १६ वीं पंक्ति में किसी समय का होना फ्लीट तथा लुडर्स ने नहीं माना है। डा० जायसवाल ने पहले तो मौर्य्य संवत् को मान लिया था परन्तु बाद में उन्होंने खारवेल को पुष्यमित्र सुंग के समकालीन होने का प्रमाण पाकर उसका समय दूसरी सदी पूर्वेसा प्रथम चतुर्थांश निश्चित किया। संख्यान गृह्य सूत्र में बृहस्पति का उल्लेख पाकर उन्होंने

हाथी गुम्फा में उल्लिखित बृहस्पतिमित्र का खारवेल द्वारा विजित माना है। यह प्रमाण भी सन्देहास्पद है। है उन्होंने पाभोस के शिलालेख में और कोसम से प्राप्त एक मुद्रा में भी इस नाम के एक राजा का उल्लेख किया है। परन्तु वह सम्भवत कौशाम्बी का कोई स्थानीय राजा था जिसके नाना ने पद्मम शुंग नृपति उदक के राज्यकाल में गुफा खुदवायी थी। अत यह किसी प्रकार भी प्रथम शुंग नृपति नहीं हो सकता। उन्होंने बृहस्पति मित्र का पुष्य मित्र मान लिया है क्योंकि मुद्राओं पर बाद के शुंग राजाओं के भिन्न २ नाम मिलते हैं। परन्तु यह विषय विवाद से परे नहीं है। ये लोग सम्भवत शुंग साम्राज्य के ध्वंश होने के बाद के स्थानीय मित्र राजा गण थे। इसके अतिरिक्त शिलालेखों में पुष्यमित्र शुंग का पौराणिक नाम ही मिलता है अत उसने कायम की मुद्रा के लिये कोई दूसरा नाम चुना होगा ऐसा नहीं माना जा सकता।

डा० वी० स्मिथ तथा कुनरील ने भी इन्द्राजी और जायसवाल द्वारा निश्चित समय को मान कर खारवेल को दसरा सदी पूर्वेश में रखा है। कुछ दिनविचाइट के साथ प्रा० रैप्सन ने भी यही किया है। हमलोगों ने देखा है कि बाद में जायसवाल ने भी इन्द्राजी के पाठ को अमान्य समझा। अन्तिम परिष्कृत शुद्ध पाठ निम्न प्रकार है —

चतुरे च वडुरिय गभे थभे पटिठापयति पान अतरिय सत सन्सेही। मु (रि) य क वोच्छिनं च चोय (ठा) अग सटिक (म) तुरियम् उपादयति। १६ वीं पंक्ति के शेष शब्द खेमराजा स वधराजा स भिक्खुराजा धमराजा दूसरी पंक्ति के वाक्य के अश हैं जिसका अंत राजा खारवेल सिरि से होता है। इसका पाठ और पद संस्थान इन्द्राजी से एकदम भिन्न हैं। वाक्यों का भग्नीकरण और सठि वस सते, मुरिय, काले, अग सत्कितुरियम् इत्यादि शब्दों का सतसाहसेहो, मुखिय, कला, अग तथा सत्किम तुरियम् में परिवर्तन ही इस पाठ की विशेषता है। उपयुक्त पदसंस्थान से विदित होता है कि १६ वीं पंक्ति के प्रथम वाक्य के अन्तिम शब्द पान अतरिय सतसहसेही में उन पांच लाख मुद्राओं के व्यय का उल्लेख है जो उस गुफा को अलङ्कृत स्तम्भ प्रथित वडुरिय गभे थभे को सजाने में लगे थे। यह अधिक विचारपूर्ण है। अन्यत्र भी खारवेल का व्यय मुद्राओं का परिमाण अंकित करने में उत्सुक पाया जाता है जैसे तीसरी पंक्ति में उसने महा विजय पासाद के निर्माण में ३८ लाख व्यय होने का उल्लेख किया है बाद के वाक्य में भी किसी मुरियकाल का उल्लेख न होकर शान्तिकाल के उपयुक्त मुख्य कलाओं का (मुरिय काला वोच्छिन) संरक्षण अधिक उपयुक्त है। डा० सरकार ने इसे गीत नृत्यादि समलितम् स स्पष्ट कर दिया है। अत खारवेल का दूसरी सदी पूर्वेश में रखने का कोई प्रमाण नहीं है।

दूसरी ओर शिलालेख में प्राप्त कुछ निश्चित स्मारक सम्बन्धी तथा आन्तरिक प्रमाणों से

मान लीजिये कि यदि ३०० में बीस वर्ष जोड़ दिया जाय तो नहर के संवर्धन या परिवर्धन का समय सन् ३३४—३२०=१४ पूर्वेसा हुआ और उसका राज्याभिषेक पांच वर्ष पहले सन् १६ पूर्वेसा में हुआ शिलालेख की दूसरी पंक्ति में हमे उसके प्रारम्भिक जीवन का विवरण मिलता है जिससे हमे विदित होता है कि १६ वर्ष की अवस्था में वह युवराज बना और २४ वर्ष मे राजा, इसलिये सन् १४ पूर्वेसा मे नहर के परिवर्धन के समय पांच वर्ष राज्य करने के बाद उसकी अवस्था २६ वर्ष की थी। इस प्रकार हम प्रयाग के रूप में खारवेल के समयानुक्रम की निम्न लिखित तालिका बना सकते हैं.—

जन्म समय	२६+१४=४३	ई० पू०
युवराज्य	४३—१६=२७	ई० पू०
राज्याभिषेक	४३—२४=१६	ई० पू०

यह शिलालेख उसके राज्य के तेरहवे वर्ष तक का वार्षिक विवरण प्रदान करता है अत. यह उसके राज्य के तेरहवे या चौदहवें वर्ष मे खोदा गया होगा। इस प्रकार शिलालेख का समय सन् १६—१४=५ ई० पू० होता है। यह समयानुक्रम पौराणिक प्रमाणों से भी मेल खाता है। और दूसरी समसामयिक घटनाओं के अनुकूल भी है जिसमे सबसे महत्त्वपूर्ण खारवेल और सात॰ कर्णी के युद्ध का समय है जो शिलालेख के अनुसार खारवेल के राज्य के दूसरे वर्ष में अर्थात् १७ ई० पू० में हुआ था। पहले दिखलाया जा चुका है कि यह एक ऐसा प्रमाण है जो आन्ध्र राजा के राज्यकाल के तीसरे वर्ष के समकालीन पडता है।

अनुवादक—श्री चन्द्रसेन कुमार जैन बी० ए० (आनर्स)

साहित्य-समीक्षा

मेरी जीवन गाथा—लेखक पूज्य श्री १०५ क्षुल्लक गणेश प्रसाद जी वर्णी प्रकाशक श्री गणेश प्रसाद वर्णी जैन ग्रन्थमाला, भदैनीघाट काशी पृष्ठ संख्या २१+७०८ मूल्य छः रुपये चार आने साइज डबलक्राउन सोलहपेजी, सजिल्द।

यह पूज्य वर्णीजी की आत्मकथा है। इसकी प्रस्तावना मध्य प्रदेश सरकार के गृहमंत्री श्रीमान् पं० द्वारिका प्रसाद जी मिश्र ने लिखी है। आपने प्रस्तावना में वर्णीजी के जीवन की विशेषताओं का स्वीकार करते हुए लिखा है कि "वर्णीजी के सम्पर्क में मैं अधिक नहीं आया। परन्तु मिलते ही मेरा हृदय श्रद्धा से भर गया। वर्णीजी ने अपना आत्मचरित लिखकर जहां जैन समाज का उपकार किया है, वहां हिन्दी के भाण्डार को भी भरा है"। प्रस्तावना की उपयुक्त पंक्तियाँ ही पाठक को आद्योपान्त पुस्तक पढ़ने की प्रेरणा देती हैं। वास्तव में वर्णीजी ने इसे बड़े ही आकर्षक ढंग से लिखा है। उनके जीवन में जो महत्ता और विशेषताएँ हैं उनका यत्किञ्चित् आभास मिल जाता है। जो वर्णीजी को निकट से नहीं जानते हैं, वे इस पुस्तक के द्वारा उनके निर्मल हृदय के दर्शन कर सकेंगे। निकट में रहनेवाले व्यक्ति भी इस चरित ग्रन्थ से अपने जीवन में अनेक बातें सीख सकेंगे।

वर्णीजी के जीवन के साथ इसके द्वारा बुन्देलखण्ड का पचास-साठ वर्षों का इतिहास भी ज्ञात हो जाता है। ज्ञान पिपासा कितनी प्रबल होती है, यह वर्णीजी के जीवन से सहज में जाना जा सकता है। एक लगन का व्यक्ति समाज के अज्ञान और कुरीतियों को किस प्रकार दूर कर सकता है तथा वह अपने त्याग और साधुता द्वारा समाज की कितनी सेवा कर सकता है, आदि बातें इस आत्मकथा से सीखी जा सकती हैं। प्रसंगवश श्री वर्णीजी ने अपने सम्पर्क में आये हुए अन्य कई महानुभावों के जीवन की झलक भी दिखलायी है। इन प्रसंग प्राप्त चरित्रों में उनकी धर्ममाता श्री चिरौंजाबाईजी का चरित्र विशेष उल्लेखनीय है। आपकी ही उदारता और मातृस्नेह के कारण वर्णीजी की ज्ञान पिपासा पूर्ण हुई है तथा वर्णीजी वर्णीजी बने हैं।

इस जीवन चरित्र में अनेक ज्ञातव्य बातें हैं। इसके लिखने की शैली औपन्यासिक है। जितना आनन्द किसी उपन्यास के अध्ययन में आता है, उससे भी अधिक आनन्द इस आत्मकथा के पढ़ने में आता है। प्रारम्भ करने पर पाठक अन्त किये बिना नहीं रह सकता। इस आत्मकथा की अनेक विशेषताओं में एक विशेषता जैनधर्म के उच्च सिद्धान्तों के प्रतिपादन की भी है। पाठक चरित्र के साथ जैनधर्म के अनेक सिद्धान्तों का भी ज्ञान कर सकता है। संक्षेप में यह एक उत्तम आत्मकथा है जिसकी भाषा में प्रवाह, विचारों में गम्भीरता और घटनाओं को क्रमबद्ध रखने का चातुर्य प्रशंसनीय है। छपाई-सफाई अच्छी है, प्रूफ में कुछ अशुद्धियाँ रह गयी हैं, जो कहीं कहीं खीर में कंकड़ों के समान खटकती हैं।

वर्णी-वाणी (परिवर्धित एवं संशोधित द्वितीय संस्करण):—संकलयिता और सम्पादक विद्यार्थी नरेन्द्र जैन, प्रकाशक गणेशप्रसाद वर्णी जैन ग्रन्थमाला, भदैनी, बनारस पृष्ठ संख्या ३० + ३२० मूल्य चार रुपये, डबलक्राउन सोलहपेजी साइज, सजिल्द।

श्री नरेन्द्रजी ने परिश्रम कर इसमें वर्णीजी के चुने हुए उपदेशों का संकलन किया। आज के उथल-पुथल के युग में यह वर्णीवाणी वस्तुतः मानव को शान्ति दे सकेगी तथा इसमें प्रतिपादित उपदेशों पर चलने से आपका भ्रान्त अतृप्त मानव दिशा प्राप्त कर सकेगा।

प्रारम्भ में श्री प० फूलचन्द्रजी सिद्धान्तशास्त्री की प्रस्तावना है। आपने इस प्रस्तावना में संक्षेपतः अध्यात्मवाद की रूपरेखा तथा उसकी आवश्यकता बतलायी है। सुनिश्चित है कि मानव जबतक भौतिकवाद के जाल में जकड़ा रहेगा, तबतक आपकी समस्याएं नहीं सुलझ सकती हैं। अध्यात्मवाद से ही शान्ति और सुव्यवस्था हो सकती है।

आगे वर्णीजी की संक्षिप्त जीवन झांकी दी गयी है। पाठक इनके जीवन से बहुत कुछ सुधार सकते हैं। पश्चात् कल्याण का मार्ग, मोक्षमार्ग, सफलता के साधन, मानवधर्म, विद्यार्थियों को शुभ संदेश, संसार के कारण, सुधासीकर, दैनन्दिनी के पृष्ठ, वर्णी लेखाञ्जलि और गागर में सागर इन दस भागों में समस्त उपदेश वाक्यों को विभक्त कर अनेक अध्ययन एवं मनन की चीजें दी गयी हैं। इन उपदेशों का प्रत्येक वाक्य जीवन शोधन में विशेष सहायक है। जीवनकी अनेक उलझनें इस पुस्तक के स्वाध्याय से दूर की जा सकती हैं। प्रत्येक सन्त की वाणी में जैसी हृदय की ध्वनि रहती है, इसमें भी वही ध्वनि वर्तमान है। इसके अध्ययन से किसी भी सम्प्रदाय का व्यक्ति अपने जीवन में स्फूर्ति, ज्योति, प्रेरणा, चेतना एवं गति प्राप्त कर सकेगा। श्रीनरेन्द्रजी ने इस द्वितीय संस्करण को पर्याप्त सुन्दर बनाने का प्रयत्न किया है। अन्त में दिया गया सिद्धान्तशास्त्री श्री प० फूलचन्द्रजी का शब्दकोष पुस्तक के पारिभाषिक शब्दों को हृदयंगम करने में सहायक है।—इस सर्वाङ्ग सुन्दर प्रकाशन के उपलक्ष में वर्णी ग्रन्थमाला के प्राणप्रतिष्ठापक श्री प० फूलचन्द्रजी शास्त्री विशेष धन्यवादार्ह हैं।

आप्त-परीक्षा (हिन्दी अनुवाद और प्रस्तावना सहित):—रचयिता श्रीमद्विद्यानन्द स्वामी, सम्पादक और हिन्दी अनुवादक न्यायाचार्य श्रीमान् प० दरबारीलालजी कोठिया प्रकाशक वीरसेवा मन्दिर सरसावा (सहारनपुर) पृष्ठ संख्या ६ + ६ + ६० + २६६ + ७, मूल्य आठ रुपये।

इस पुस्तक का प्राक्कथन दि० जैन समाज के ख्याति प्राप्त विद्वान् श्रीमान् प० कैलाशचन्द्रजी शास्त्री बनारस ने लिखा है। आपने इसमें जैनदर्शन की विशेषताओं का दिग्दर्शन कराते हुए अनेक ज्ञातव्य बातों पर प्रकाश डाला है। प्राक्कथन के अन्त में समन्तभद्र स्वामी और पात्रकेशरी का संक्षिप्त विवेचन भी किया गया है। आपने इस पुस्तक के सम्पादक विद्वान् श्री

शास्त्रियाजीका इस प्रकार के सुन्दर अनुवाद और सम्पादन के लिये आशीर्वाद दिया है। वास्तव में शास्त्रियाजी ने दि० जैन न्याय ग्रन्थों का अनुवाद कार्य कर समाज का बड़ा उपकार किया है। वर्तमान में दि० जैन न्याय के पठन-पाठन की धारा क्षीण हो रही है, आपके द्वारा अनूदित ये दार्शनिक ग्रन्थ इस धारा को ताजगी प्रदान करेंगे।

कुछ दिन पूर्व आपके द्वारा सुसम्पादित न्यायदीपिका देखने को मिली थी। अब इस ग्रन्थ का हिन्दी अनुवाद प्राप्त कर मन को प्रसन्नता हो रही है। श्री शास्त्रीजी ने मूलानुगामी अनुवाद कर न्याय के विद्यार्थियों का बड़ा उपकार किया है। अनेक स्थानों पर तुलनात्मक टिप्पणियाँ दी गयी हैं, जिनसे यह ग्रन्थ सर्वाङ्ग सुन्दर बन गया है। अनुवादक की विशद विवेचनात्मक शैली, प्रौढ़भाषा, एवं अनुरूप भावों की रक्षा आदि बातें उनकी दार्शनिक प्रतिभा की परिचायक हैं। सम्पादक द्वारा दी गयी विस्तृत प्रस्तावना, जिसमें विशेषतः जैन न्याय का इतिहास है, विद्वत्तापूर्ण है। इस प्रस्तावना से जैन दार्शनिकों के सम्बन्ध में पर्याप्त जानकारी प्राप्त की जा सकती है।

प्रस्तुत सम्पादन सर्वाङ्गपूर्ण हुआ है। न्यायाचार्य दरबारीलालजी की सूक्ष्म दार्शनिक प्रतिभा प्रशस्य है। यद्यपि पाद टिप्पणियों में दो एक स्थल में व्याकरण सम्बन्धी कुछ भूलें रह गयी प्रतीत होती है, फिर भी सम्पादन सुरुचिपूर्ण है। छपाई सफाई उत्तम है। इस उत्तम प्रकाशन के लिये वीरसेवा मन्दिर एवं विद्वान् सम्पादक धन्यवादार्ह है।

राजगृह —लेखक श्री भँवरलाल नाहटा प्रकाशक श्रीजैन सभा ७ शम्भू मल्लिकलेन, कलकत्ता पृष्ठ संख्या १०१, मूल्य दो रुपये।

इसमें लेखक ने अनेक श्वेताम्बर जैन ग्रन्थों एवं अन्य ऐतिहासिक ग्रन्थों के प्रमाणों के आधार पर राजगृह तीर्थक्षेत्र की महत्ता बतायी है। भगवान् महावीर के समय में राजगृह अत्यन्त समृद्धशाली नगर था। चीनी यात्री फाहियान ने राजगृह की वन्दना की थी और बौद्ध मूर्तियों के दर्शन कर कृतकृत्य हुआ था। लेखक ने जैन दृष्टिकोण से राजगृह क्षेत्र की पवित्रता और ऐतिहासिकता का वर्णन किया है। विपुलगिरि, रत्नगिरि, उदयगिरि, स्वर्णगिरि और वैभारगिरि इन पञ्च पहाड़ियों का ऐतिहासिक वर्णन श्वेताम्बर दृष्टिकोण से अच्छा किया है तथा बीचमें एकाध स्थल पर श्वेताम्बर और दिगम्बर मान्यताओं की भिन्नता का भी प्रतिपादन किया है। जानकारी के लिये पुस्तक अच्छी है, इतिहास प्रेमियों को अवश्य पढ़ना चाहिये।

नेमिचन्द्र ज्योतिषाचार्य

रत्नाकर शतकः—रचयिता रत्नाकरवर्णी अनुवादक और सम्पादक: स्वस्तिश्री १०८ देशभूषण महाराज : सहायक सम्पादक : श्री पं० नेमिचन्द्र शास्त्री प्रकाशक : स्याद्वाद प्रकाशन मन्दिर आरा पृष्ठ संख्या ५ + २३ + २४०, मूल्य : दो रुपये आठ आने।

कन्नड जैन वाङ्मय बहुत विशाल है। इसका हिन्दी में अनुवाद होकर प्रकाशित होना बहुत आवश्यक है। उक्त प्रकाशन मन्दिर का प्रधान ध्येय कन्नड जैनवाङ्मय को राष्ट्रभाषा हिन्दी में अनूदित कर प्रकाशित करने का है। यह इस ग्रन्थमाला का प्रथमाङ्क है। आमुख के अनन्तर प्रस्तावना है, जिसमें कविरत्नाकर वर्णी का जीवन चरित्र एवं ग्रन्थ की विशेषताएँ बतायी गयी हैं। कन्नड पद्योंको ऊपर नागरी लिपि में रखा गया है तथा प्रत्येक पद्य के सरलार्थ के साथ विशेष विवेचन भी दिया गया है, जिससे यह ग्रन्थ सर्वसाधारण के लिये स्वाध्याय योग्य बन गया है। विवेचन लिखते हुए कई ग्रन्थों का आधार लिया गया है तथा बीच-बीच में उद्धरण भी दिये गये हैं। स्वाध्याय प्रेमियों को मँगाकर अवश्य लाभ उठाना चाहिये तथा कन्नड कृतियों का रसास्वादन हिन्दी माध्यम द्वारा करना चाहिये। छपाई सफाई अच्छी है।

—माधवराम न्यायतीर्थ

वैराग्यसार-प्राकृतदोहाबन्धः

रचयिता—सुप्रभाचार्य

श्री जिनपतये नमः

॥ वैराग्यसार-प्राकृतदोहाग्रन्थः ॥

इक्कहिं घरे वधामणा अण्णाहिं घरि धाडहिं रोविज्जई ॥
परमत्थईं सुप्पउ भणइं किमवइसग्गभाउ ण किज्जइ ॥१॥

अस्य टीका। सुप्रभाचार्य उवाच अहो भव्य! अत्र संसारे एकस्मिन् गृहे वृद्धिमंगलं भवति तथान्यस्मिन् गृहे धाडहिं—हाहाकारं रोदनं करोति, इति मत्वा परमार्थेन कृत्वा सुप्रभाचार्यः कथयति त्वया वैराग्यभावः किं न क्रियते ॥

सुप्पउ भणइ रे धम्मियहु मा खसहु धम्मणियाणि ॥
जे सूणामिधयल हरिते अथवण मसाण ॥२॥

पुनः सुप्रभाचार्यः कथयति। हे धर्मिणो लोकाः जिनधर्मात् दशविधिधर्मात् मा खसहु—मा चलन्तु, अपरमिथ्यामार्गे मा पतन्तु, तथा मरणपर्यन्तमपि जिनधर्ममार्गात् मा चलन्तु कुतः अत्र संसारे ये लोकाः सूर्योदये धवलगृहे तिष्ठन्ति ते लोकाः, अस्तगते सूर्ये श्मशाने दृश्यन्ते लोकैरिति शेषः ॥

सुप्पउ भणइ मा परिहरहु परउवयारचरत्तु ॥
ससिसूरदुहु अथवणि अणह कवणथिरत्तु ॥३॥

पुनः सुप्रभाचार्य कथयति किं सत्पुरुषैः परोपकारः न मुच्यते, परेषामुपकरणं चरित्रं न मोक्तव्यं अत्र दृष्टान्तमाह यथा शशिरव्योरस्तंगच्छतः तर्हि अन्येषां लोकानां स्थैर्यं कथं भवति, अपितु न ॥

धणवंता सुप्पउ भणिइं धणुदइ विलसिम भूलि ॥
अजजिदीसहिं केविणरसुवातिसुं महिकलि ॥४॥

हे धनवान् त्वं सत्क्षेत्रेषु धनं देहि, पुनः त्वया निजधनं भोक्तव्यं विलसन् मा भ्रम। अत्र दृष्टान्तमाह ये लोकाः मया अद्यदिने अवलोकिताः ते लोकाः अपरस्मिन् दिने मृताः श्रुताः ॥

अहघरकरिदाणेण सहुअहतउ करिणिगथु ॥
बिहचुक्कउ सुप्पउ भणइं रे जीय इत्थणउत्थ ॥५॥

हे जीव यदि त्वं गृहवासं करिष्यसि तर्हि दानपूजाद्यैः सह गृहवासं कुरु। यदि गृहे धनं नास्ति तर्हि निर्ग्रन्थ-जिनदीक्षां गृहाण। यदि त्वं दानपूजाद्यैर्विना गृहे तिष्ठसि, जिनदीक्षां न पालयसि, निर्ग्रन्थस्य दीक्षां गृहीत्वा पश्चात् परिग्रहसंगं करोषि, तर्हि इहामुत्र द्वौ हारितौ मूर्खजीवस्य-जन्म वृथा गतम् ॥

सुप्पउ भणइं रे धमियहु पडहुम इंदियजाल ॥
जसुमगलसूरगमे तसुकरवणउवियालि ॥६॥

भो भव्या! इन्द्रियजालविषये मा पतन्तु यतः अत्र संसारे यस्य सूर्योदये मंगलादिकं भवति तस्य गृहे अपराह्णेऽकस्मात् करवणा—शोकः उत्पद्यते तत् साम्प्रतं प्रत्यक्षं दृश्यते ॥

सुप्पउ भणइ मामेल्लिनिय निणगिरिचरणकराडि ॥
को जाणइ कहिं खणिपडइ तुट्टय तहघांडि ॥७॥

– हे भव्य ! जिनेंद्र एव गिरि पर्वतस्तस्य चरणविवर कराल्स्तस्य मादृगो आश्रय मा मुञ्च कस्मात् यत कारणात्, को जानाति कस्मिन् क्षणे कृतान्तस्य घाटि पतति, किं कृत्वा ? तुट्यित्वा ॥

रे जीवतुअ सुप्पउ भणइ पावउ धम्रुममेल्लि ॥
पेरजत सुहिसणजणहिं अवसिमरिप तुकलि ॥८॥

– रे जीव ! त्वं महादुर्लभ जिनधर्म प्राप्य मा मुञ्च मिथ्या धर्मे मा पतें, कस्मात् यतः तव सुहृत्स्वजनकुटुंबादिक उत्तालोस्ति सति, अवश्यमेव त्वं मृत्यु प्राप्नोषि तस्मात् धर्मापरि भक्तिं कुरु ॥

निमझाइ जइवल्लह उतिमनइ जिय अरहंतु ॥
सुप्पउ भणइ ते माणसहं सुगुघरिंगणिहुतु ॥९॥

हे जीव ! यथा किञ्चित् वल्लभवस्तूनि स्वचित्ते चिन्त्यति ध्यायते, तथा तेनैव प्रकारेण अर्हत् जिनेन्द्र ध्यायतु, ध्यायमानस्य मानवस्य गृहाङ्गणे स्वर्ग वर्तते पुनरेकभव द्विभवे वा अक्षयपद प्राप्नोति ॥

मुवइमसाणि ऊपरि लहुधवणियधरजंति ॥
धरलक्कडु सुप्पउ भणइ जे मरिसादुरामति ॥१०॥

हे जीव ! अत्र लोके अस्य जीवस्य कुटुम्बादिभि किं प्रयोजन ? कस्मात् यत कारणात् श्मशान लघु—शीघ्रण मृतक स्थापयित्वा तदनन्तर तत्कुटुम्बादय निजनिजगृह गच्छन्ति तत कारणात् अहो तत्र श्मशाने काष्ठादिक वर श्रेष्ठ यत्काष्ठादिक तेन मृतकेन सह स्वय प्रज्वलति ॥

रोवतह धाहारवेण पत्रंसुव गलंति जममिलियउ ।
सुप्पउ भण॰ एत्थुण कायउमति ॥११॥

हे जीव ! अत्र य मूढ कुटुम्बादिके मृते सति यदा रोदन करोति तदा ति केवलानि अश्रूणि तानि परि सन्तात् भवन्ति गलन्ति पुन नि केवल पापकर्म बध्नाति, परन्तु तेन मूढेन स्वामरच रूप न ज्ञात, तस्मात् अयं जीव आयुष्याते सति यममन्दिरे गच्छतीति तत् आश्चर्य न किञ्चित्

रे जीवत तह किंपि करिजे सुयराहं पहिहाइ ॥
मणुविसहय हविइधणं मत्तणधवणहं जाइ ॥१२॥

हे जीव ! त्वया तत् काय करणाय येन कार्येण तव स्वजनमध्ये निपतकान्ति प्रवर्तते च पुनः परलोक साधितव्य, परन्तु रे जीव विषयसौख्यादिभि किञ्चित्स्वकार्य न भवति ! दृष्टान्तमाह यथा हवि अग्नि इंधनोपरिगच्छन् तमिंधन भस्म करोति यथा वर्द्धते पञ्चेन्द्रियाणां विषयोपरि स्वचित्तं यन्निगच्छति तदा स्वधर्म भस्म करोति ॥

हिवडांकांइं चडप्फडगइ घरु परियणु चितंतु ॥
किं न पेखहि सुप्पउ भणइं जगुजगउ कियतु ॥१३॥

हे चित्त ! त्वं कस्मात् चडफडसि कोर्थः त्वं कस्मात् आकुलव्याकुलो भवसि कथं परिजनस्य चिन्तनात् आकुलो भवसि ततः सुप्रभाचार्यः कथयति, यत् रे जीव त्वं किं परिजनस्य अत्र जगति, बद्धोऽसि असौ कृतान्तः सर्वान् जनान् सन्तापयति ॥

हिवडासंवरिधाहडी मुवउकि आवै कोई ॥
अपज अजरामरु करिवि पछइ अणहुं रोइ ॥१४॥

हे चित्त ! त्वं देहादिक परेषामुपरि धाडही रोदन शोकरोदनादिक मुञ्चय, अहोऽत्र संसारे कोपि जनः मृत्वा पुनरागतः केन दृष्टः, अत्र संसारे स जीवो नास्ति यस्य परस्पर मातृपितृभ्रातृभगिनी-भार्यास्वजनकुटुम्बादिक न मृतम् । रे मूर्ख त्वं निजात्मान प्रथम अजरामर कुरु, पश्चात् अन्येषा—अपरेषा रोदन कुरु ॥

किम किज्जइ सुप्पउ भणइं पियपरधरणिधणासु ।
आउसिरासि हरंतु खलु किंण पेखहि जीवासु ॥१५॥

सुप्रभाचार्यः कथयति किं यत् प्रियवस्तुपरपुद्गलादिकं धरणि—स्त्री—पुत्रधनगृहादीना आशा किं क्रियते न कर्त्तव्या, कस्मात् खलु निश्चितमस्य जीवस्यायुरेव प्रतिदिन प्रतिक्षणं स्खलति हरति रे जीव तत् त्वं न पश्यसि, इति मत्वा रे जीव त्वया जीवनस्य आशा न कर्त्तव्या ॥

सुप्पउपुत्तकलत्त जिम दिव्वु विहंजे विलंति ।
तिमंजइ जंमुणु जरमरणु हरहित इठप्पणभंति ॥१६॥

रे जीव ! अय पुत्रकलत्रगृहधनकुटुम्बादिक यथा ज्ञातेन द्रव्यादिक वाटयित्वा गृह्णाति तथा तेनैव जन्मजरामरणरोगवियोगदारिद्रयादिकं तत. सकाशात् यदि गृह्णाति तदा इदं कुटुम्बादिकं परमेष्टं मन्ये ॥

जइसुद्धउधणु वल्लहउ मित्त महिंतु विभूरि ।
लइलाहउ सुप्पउ भणइं जमुणियडौ घर दूरि ॥१७॥

हे जीव ! हे मित्र यदि चेत् इदं धनादिक तव अतिवल्लभं अस्ति तर्हि तद्धने दानपूजादिषु विषये दत्ते सति त्वं स्वचित्ते मा खेद कुरु । सुप्रभाचार्य. कथयति ततः कारणात् हे जीव त्वं निज-धनस्य लाभं गृहाण, दृष्टान्तमाह यथा यम' कृतान्त. तव आयुकर्म निकटे समीपे संप्राप्तवान् पर तवगृहं दूरतर वर्तते ॥

सुप्पउ भणइं रे जीव सुणि बंधव करिहि परत्तु ।
परसिरपिछिवि अण्ण भवि जिम्मण विसूरहि मित्तु ॥१८॥

सुप्रभाचार्य उवाच रे जीव त्वं शृणु अहं कथयामि इदं कुटुम्बपरिजनादिकं त्वं स्वकीयं मा

नानाति, अतः यदि धनकुटुम्बादिकं स्वकीय भवति तर्हि त्वया सह कथं न आयाति। त्वया अनन्तानन्तानि कुटुम्बानि कृतानि, पुनः त्वं प्रिय स्वकीया मा जानीहि। कस्मात् यत् कारणात् अन्यस्मिन् भवे त्वं न प्राप्नोषि। हे नर ! अन्तरङ्गं त्वं । पश्य स्वं न ज्ञान ।॥

जेण सहत्थेंणि थयधणु मन्दाणत्थ णन्दिति।

माइ निहूणउ टिसु निसुते मरति मरति ॥१९॥

हे जीव ! येन पुरुषेण स्वकीय धनं स्वहस्तेन निजकृपात्रदानादिषु धर्मकार्येषु विषये न दत्तं तेन पुंसा चित्ते कष्टमनुभूयते यथा भिक्षावालक स्वमातरं विना भूखितः अति दुःखेन मरणं प्राप्नोति तद्वत् ते कृपणाः वालकवत् भूखितः मरणं प्राप्नुवन्ति ॥

धणुदिंतुह सुप्पउ भणइ किंतु मवारि मयरिथ।

नज्जरि भदुगल्लाह जिम आउगलनी पिढि ॥२०॥

हे मृगाक्षि ! हे कान्ते ! स्वकीय धनं सत्पात्रे न मा प्रत्यय कुरु कान्त, यथा जर्जरे घटे नीरं पानीयं गलित्वा गच्छति तथा हे प्रियतम संसारे अस्य जीवस्य आयु गलति, त्वं पश्य ॥

सुक्खिउ सचिम सचिधणु न परहूदाणु होय।

सुप्पय सुरणर विमहरह मुक्खिउ हुरण्णु कोइ ॥२१॥

हे जीव ! त्वं निज सुकृतस्य पुण्यस्य सञ्चयं कुरु। शान्तिधर्मस्य सञ्चयं कुरु, परन्तु लक्ष्म्या धनस्योपरि आदरसञ्चयं मा कुरु, कस्मात् यदि स्वं धनं स्वहस्तेन सत्पात्रेषु दीयते तर्हि तद्धनं परहस्तेषु न भवति, तद्धनं स्वकीयं भवति। अस्य जीवस्यैव धनं कस्माच्चित् असुरदेवनरमानव विषधरनागकुमारदय अपहरन्ति परन्तु स्वसुकृत धर्मं न कापि अपहरन्ति ॥

दिज्जइ धणु दरिनिय जणह सुद्धउ करिणिय भाव।

चल जायतु सुप्पउ भणइ सुणउ दिवसुम नाव ॥२२॥

हे भव्य ! दुःखिजनेभ्यः धनं दीयते, केन प्रकारेण शुद्धभावेन सवेगं कृत्वा सुप्रभाचार्य कथयति अत्र चपलं चञ्चलं जीवितं भवति इति मत्वा हे वत्स दानपुण्यादिकं विना एकं दिनं शून्यं मा गच्छतु ॥

सुप्पउ भणइ रे टविलसिडन्धिणु मचिमगाह।

लग्गइ कालि पले वणइ ज णिग्गन्ध स लाहु ॥२३॥

सुप्रभाचार्य कथयति ! किं रे जीव त्वं स्वकीयं धनं सत्पात्रेषु विनमार्ग देहि वा च पुनः भोगं कुरु। रे मूढ लोभिन् त्वया या लक्ष्मी अत्यन्तात् हठात् पञ्चाणुव्रतपरिणामात् मज्जिता ता लक्ष्मी दहना ज्वालेन न, यदि त्वं पुनः कुटुम्बाय लक्ष्मी भूमिमध्ये सञ्चयसि तर्हि तत्र स्थाने कालरूपा भूत्वा पश्चात् नरके गच्छसि, कस्मात् एषमा नशात् येन दृष्टान्तेन यथा यदा काले पहपले वणलग्ने—दग्धे सति यद्वस्तु निःकाश्येत तस्य लाभो भवति ॥

सुप्पउ वल्लह मरणदिणि जेम विरच्चैचित्तु ।
सव्वावत्थहं तेमजइ जिम णिव्वाण पहुत्तु ॥२४॥

रे जीव ! अत्र ससारे कोपि पुरुष. स्ववल्लभ वस्तु सचेतनाचेतनादिगते म्रियते मति- वैराग्य- विरक्तचित्त करोति, तथा तेनैव प्रकारेण यदि चेत् अहो जीव त्व सकलपदार्थविषये परस्वरूप- विषये यदा विरक्तो भविष्यसि तदा त्व निर्वाणे मोक्षे गमिष्यसि ॥

जर जोवण जीविउ मरण धण दालिद कुटुंब ।
रे हियडा सुप्पउ भणइ इहु संसाचिदूगवु ॥२५॥

हे जीव ! जरायौवनं पुन. जीवितव्य मरण पुन. धनदारिद्रयकुटुम्बादिके रोगशोकादिके च तव चित्त सलग्न, तत सुप्रभाचार्य. कथयति किमित्यादिकाः पदार्था. अस्य जीवस्य चतुर्गति- ससारमध्ये चिदूगवु कारणं दु.खदातार भवन्ति कस्मात् यत. परेणामय जीव स्वकीय मन्यते तस्मात् यथा दुग्ध लम्पटो मार्जारः लकुटप्रहार विस्मृत पिबति तथा तेनैव सर्षपसम विषयसुखेन मेरुसम दु.ख भुनक्तीति महदाश्चर्यम् ॥

हयगय रहवर पवर भड संपय पुत्तकलत्त ।
जमरुठइ सुप्पउ भणइं कोइ न करइ परत्तु ॥२६॥

हे वत्स ! अत्र ससारे ऽस्य जीवस्य हय'-घोटक, गज -हस्ती, रथ.-प्रवर. भट -सुभट., सपद्- लक्ष्मी पुत्रकलत्रादियश्च, एतेषु सर्वेषु न कोपि परत्र कृतान्तभयात् रक्षति ? अपितु कोपि न रक्षति, केन कथित केवलिवचनात् सुप्रभाचार्येण कथितम् ॥

जइदिणदह सुप्पउ भणइ घरपरियण थिर होइ ।
तां अवलवि चित वरण रण्णि किनि वसइ कोइ ॥२७॥

पुन सुप्रभाचार्य उवाच किमत्र जगति विषये यदि चेत् दशदिनानि अथवा किञ्चिद्दिनत्रयं त गृहपरिजनधनकुटुम्बादिकं स्थिरं भवति तर्हि अत्र संसारे तपश्चरणं प्रव्रज्यादिक गृहीत्वा अरण्ये वने को नर' तिष्ठति, अपि तु न कोपि, इति मत्वापि हे जीव ! लक्ष्मीगृहपुत्रकलत्रकुटुम्बादिकस्यापरि राग मा कुरु ।

ते जीवं तह मुत्र विगणि मालेखहिं जीवति ।
ते कुप्पाहि सुप्पउ भणइं दाणहु पथिण जति ॥२८॥

हे वत्स ! अत्र ससारे ते पुरुष जीवन्तोऽपि मृता ज्ञातव्या. ये पुरुषा. जीवनक्रिया न जानन्ति कथ जीवनक्रिया न जानन्ति, सुप्रभाचार्य कथयति, ये पुरुषा. कूपमिवमिथ्यामार्गे प्रवर्तन्ते पुन. दान- पूजाव्रतादिसन्मार्गेषु न वर्त्तन्ते । पुन व्यसनमदकषायान् न मुञ्चन्ति ।

धम्मणिमित्त घरु घरणि जसु मणि णिछउ हुति ।
तसु जय सिर सुप्पउ भणइं इयरह कह वनछति ॥२९॥

हे वत्स ! अत्र ससारे ये भव्या जिनधर्मे निश्चयचित्त कृत्वा दानपूजाधर्मार्थात् स्वगृहे

तर्हि त्वया इदं धनं कथं गच्छितम्। यदि मनक्षेत्रे धनं न दीयते तर्हि सत्पुरुषस्येव वार्ता किं योग्या भवति, अपितु न ॥

सिसु तरुणा उपरिण यवयसु इउ चिंतणहं न जाइ।
जमरक्खसु सुप्पउ भणइ उपरितांडि यरखाइ ॥२५॥

हे वत्स ! अत्र संसारे यः पुमान् स्वचित्ते एवं चिन्तयति स पुरुषः मूढात्मा कथ्यते, किं चिन्तयति यदहं शिशुः बालकः, तरुणः युवा, वृद्धः, अहं ज्ञानी, अहमज्ञानी, अहं कुलीन, अहमकुलीन, अहं सुजातिः, अहं कुजाति, अहं राजा, अहं भृत्यः, अहं बलवान्, अहं निर्बलः, अहं लक्ष्मीवान्, अहं दरिद्रः, अहं तपस्वी, अहं रोगी, अहं रूपवान्, अहं कुरूप, अहं पुरुषः, अहं स्त्री, अहं नपुंसकः, इत्यादि कर्मणः पाकिया ज्ञेया। एवं—अमुना प्रकारेण सत्पुरुषाः सद्दृष्टयः एवं न चिन्तयन्ति ततः सुप्रभाचार्य कथयति किमहो अस्य जीवस्योपरि यमः राक्षसः ताडनाय पीडनाय तत्परः तिष्ठतीति मत्वा इन्द्रियपोषणार्थं एवं मूढत्वं न चिन्तनीयम् ॥

ते धणवंत न दिंति धणु अवरुजियरुमग्गंति।
ते दुण्णिवि सुप्पउ भणइ मुवलेरिवइ लग्गंति ॥३६॥

अहो वत्स ! अत्र जगति विषये धनवन्तः पुरुषाः स्वकीयं धनं न ददति च पुनरन्येऽपरे जनाः परजनेभ्यः धनस्य याञ्चा कुर्वन्ति तान् सुप्रभाचार्य कथयति किं यथा संसारमध्ये ये पुरुषाः मरणं प्राप्ताः तेषां मृतकानां पुरुषाणां न कोऽपि लेखां करोति तद्वत् ते पुरुषाः ज्ञातव्याः ॥

दयाकारी जीवहपालिपय करिदुत्थियपरत्त।
जिमतिमकरि सुप्पउ भणइ अवसि मरे वो मित्त ॥३७॥

हे जीव ! सर्वेषामुपरि दयां कुरु, पुनः निर्मलानि व्रतानि पालय, पुनः करिदुत्थियपरत्त इति कोऽर्थः—दुःखीजनानां दरिद्राणामुपकारं कुरु, कस्मात् ततः सुप्रभाचार्यः कथयति किं यतः कारणात् हे जीव ! यथा तथा प्रकारेण अवश्यमेव हे मित्र ! मर्त्तव्यं यमपुरे गन्तव्यम् ॥

धणुदीणह गुणसज्जणह मणुधम्महं जो देइ।
तहं पुरिसें सुप्पउ भणइ विहिदासतु करेइ ॥३८॥

हे भव्य ! अत्र संसारे यः पुरुषः दुःखिजनेभ्यः स्वधनं ददाति पुनः सज्जनानां गुणं करोति, पुनः स्वमनः जिनधर्मे स्थापयति तं पुरुषं सुप्रभाचार्य कथयति किं विधिकर्मदासत्वं—किंकरत्वं करोति ॥

संपयविलसहु जिणथुणहु करहु निरंतर धम्मु।
उत्तमकुलि सुप्पउ भणइ दुल्लहु माणसजम्मु ॥३९॥

हे जीव ! इयं तव सम्पत् लक्ष्मी विलसतु, पुनः जिनेन्द्रस्य चैत्यालये सप्तक्षेत्रेषु उप्यताम् पुनस्त्वं जिनेन्द्रस्य स्तुतिं कुरु, पुनः जिनधर्मं निरन्तरं पालय ततः सुप्रभाचार्यः कथयति किमत्र संसारेऽस्य जीवस्य उत्तमं कुलं मानुष्यं मुहुः वारं वारं दुर्लभं अस्ति ॥

THE JAINA ANTIQUARY

VOL. XV DECEMBER, 1949 No II

Edited by

Prof A N Upadhya M A, D Litt
Prof G Khushal Jain M A Sahityacharya
B Kamata Prasad Jain M R A.S D L
Pt Nemi Chandra Jain Shastri Jyotishacharya

Published at
THE CENTRAL JAINA ORIENTAL LIBRARY
ARRAH, BIHAR, INDIA

Annual Subscription
Inland Rs 3 Foreign 4s 6d Single Copy Rs 1/8

CONTENTS

Om

THE JAINA ANTIQUARY

" श्रीमत्परमगम्भीरस्याद्वादामोघलाञ्छनम् ।
जीयात् त्रैलोक्यनाथस्य शासनं जिनशासनम् ॥ "

[अकलंकदेव]

Vol XV
No II

ARRAH (INDIA)

December
1949

HISTORY OF MATHEMATICS IN INDIA FROM JAIN SOURCES

By

Dr Sri A. N Singh M Sc D Sc Etc.
(Lucknow University)

From Sanskrit works that are available to us at present we can get a good idea of Hindu achievements in Mathematics and Astronomy and trace the development of these sciences after the fifth century A D, but practically no Sanskrit work on these subjects written before the 5th century is available to us now The mathematical and astronomical works that existed before the 5th century were re-cast and re-written in the 6th and following centuries The Brahma sphuta Siddhānta written in 629 A D, mentions the names of several astronomical works that were re-cast and re-written Thus there is very little evidence available in Sanskrit literature today which can give us an idea of the state of Mathematics and Astronomy in India before the 5th century when the place value system of numeration was adopted generally in India probably under the influence of Āryabhata and his predecessors of the school of Pātaliputra

I have recently been able to find some material in Jaina literature which gives valuable information regarding Arithmatic and Geometry in India before the 5th century i e before the place-value notation was generally adopted The information that I propose to discuss in this article is available in the commentary of the Dhavala which has been recently made available in published form by the well-known Jaina scholar Pt Hira Lal Jain The commentary contains quotations from various works generally in Prakrita. These quotations are from works whose study was given up by the Hindus but which seem to have been used by Jaina Pandits up to the 10th century Prakrita ceased to be a literary language in the 5th century and no important work was written in that language after that date. I am therefore certain that the information which is available in the quotations was contained in works written in the earliest centuries of the Christian era

Since the publication of the Ganita-sara samgraha by Rangacarya in 1912, scholars have suspected the existence of schools of Mathematics run exclusively by Jaina scholars B Datta has collected references to Jaina Mathematics and Mathematical works in an article entitled the Jaina School of Mathematics published in the Bulletin of the Calcutta Mathematical Society Volume XXI The reader is referred to that article for detailed information on the subject It is unfortunate that we have not been able to get hold of works on Mathematics and Astronomy written by Jaina scholars with the exception of the Ganita-sāra-saṁgraha mentioned above I do not know whether any such works exist now All our information, therefore, regarding Mathematics among the Jainas is derived from their religious and canonical works. The information available has so far been very scanty It is for the first time that we find in the commentary of the Dhavala a few further details

The Dhavalā gives us information about (1) the use of the principle of place-value, (2) the Laws of Indices (3) the theory of of Logarithms (4) special methods of dealing with the fractions, (5) methods used in geometry and mensuration

The Jainas used the principle of the transformation which preserves areas and volumes and they seem to have applied this

principle in their mensuration In the Dhavala I have come across the value of $\pi = 355/113$ This value of π has been called the Chinese value of π I am sure that this value was known and used by some at least in India before it was first used in China

ARITHMETIC

Principle of place value In Jaina literature and philosophy we find the use of big numbers These numbers are to be expressed in words References quoted in the commentary of the Dhavala illustrate the difficulty of expressing big numbers and some of the devices adopted are the following —

(i) 79999998 is expressed as a number which has 7 in the beginning, 8 at the end and 9 repeated six times in between[1]

(ii) 46666664 is expressed as sixty four six hundreds, sixty six thousands sixty six hundred thousands and four kotis

(iii) 22799498 is expressed as two kotis twenty seven ninety nine thousands four and ninety eight[3]

I wish to point out the readers attention to the first example given above The original is found on page 98 of volume 3 of the Dhavala

सत्तादी अट्ठंता छण्णवमज्झा य संजदा सव्वे ।
तिगभजिदा विगगुणिदापमत्तरासी पमत्ता दु[1] ॥

It shows that the writer is familiar with the place value notation and a knowledge of the notation has been assumed by the readers also I have not been able to trace the source from which this quotation has been taken but I am sure that it belongs to some Jaina work written in the early centuries of the Christian era and certainly before 500 A D Quotations like the above found in Jaina works point to the early use of the place value notation in India and afford valuable evidence not obtainable from Hindu works

Indices Before the place value of system of numeration came into general use, various devices were used for expressing large numbers The Jainas used very large numbers and they evolved

---

1 Dhavala III p 98 quotes verse 51 of Gommata sara Jiva Kanda p 633

2 Dhavala III p 99 verse 52

3 Dhavala III p 100 verse 53

a system based on the Laws of Indices to express such numbers. The fundamental ideas in this connection seem to be those of (1) the square, (2) the cube, (3) the successive square, (4) the successive cube, and (5) the raising of a number to its own power They also used roots, specially (1) the square root, (2) the cube root, (3) the successive square root (4) the successive cube root etc. All other powers were expressed by them in terms of the above; for instance:

The successive squares and square roots were expressed as below :—

1st square of a $= (a)^2 = a^2$

2nd square of a $= (a^2)^2 = a^4 = a^{2^2}$

3rd square of a $= a^{2^3}$

. .. .

nth square of a $= a$

Similarly,

1st square-root of a $= a^{\frac{1}{2}}$

2nd square-root of a $= a^{\frac{1}{2}^2}$

3rd square-root of a $= a^{\frac{1}{2}^3}$

. . . ..

nth square-root of a $= a^{\frac{1}{2}^n}$

The raising of a number to its own power was given the technical name of Vargita-samvargita and the successive Vargita-samvargita of a given number were expressed as below :—

First vargita-samvargita of a $= a^a$

Second vargita-samvargita of a $= (a^a)^{a^a}$ $\left\{(a^a)^{a^a}\right\}$

Third vargita-samvargita of a $= \left\{(a^a)^{a^a}\right\}$

and so on

This process of vargita-samvargita yields very big numbers. For example the third vargita-samvargita of 2 is

(259)256,-

a number which is bigger than the number of electrons in the universe

The Jainas were aquainted with and used the following laws of Indices —

(i) $a^m \times a^n = a^{m+n}$

(ii) $a^m \div a^n = a^{m-n}$

(iii) $(a^m)^n = a^{mn}$

Instances of the use of the above laws are numerous To quote one interesting case [2] is stated that the 7th varga of 2 divided by the 6th varga of 2 gives the 6th varga of 2 That is

$$2^{2^7} \div 2^{2^6} = 2^{2^6}$$

Logarithms The following terms have been defined in the Dhavalā

(i) Ardhaccheda of a number is equal to the number of times that it can be halved Thus the ardhaccheda of $2^m = m$

Denoting ardhaccheda by the abbreviation Ac, we can write in modern notation

Ac of x or Ac (x) = log x, where the logarithm is to the base 2

(ii) Vargaśalākā of a number is the ardhaccheda of the ardhaccheda of that number, i e

Vargasalākā of x = Vs (x) = Ac {(Ac (x)} = log log x, where the logarithm is to the base two

(iii) Tṛkaccheda of a number is equal to the number of times that it can be divided by 3 Thus

Tṛkaccheda of x = Tc (x) = $\log_3 x$ where the logarithm is to the base 3

(iv) Caturthaccheda of a number is the number of times that it can be divided by 4 Thus

Caturthaccheda of x = Log_4 (x), where the logarithm is to the base 4

We now use logarithms to the base e or to the base 10 It is apparent from the above that the Jainas conceived of Logarithms to the base 2, 3 and 4 but no general use of the idea seems to have been made by them There is definite evidence in the Dhavalā to

show that the Jainas were aquainted with the following rules regarding logarithms :—

(1) $\text{Log}\,(m/n) = \log m - \log n$

(2) $\text{Log}\,(m.n) = \log m + \log n.$

(3) $\text{Log}\,(2^m) = m$, where the logarithm is to the base 2

(4) $\text{Log}\,(x^x)^2 = 2x \log x.$

(5) $\text{Log} \log (x^x)^2 = \log x + 1 + \log \log x.$

for the left side $= \log\ (2x \log x)$

$$= \log x + \log 2 + \log \log x$$
$$= \log x + 1 + \log \log x.$$

(as log 2 to the base 2 is 1)

(6) $\text{Log} \left({}_{x}x\right)x^x = x^x \log x^x$

(7) Let a be any number, then

1st vargita-samvargita of $a = a^a = B$ (say)

2nd vargita-samvargita of $a = B^B = y$ (say)

3rd vargita-samvargita of $a = y^y = D$ (say)

The Dhavala gives the following results :

(i) $\text{Log}\, B = a \log a$

(ii) $\text{Log} \log B = \log a + \log \log a$

(iii) $\text{Log}\, y = B \log B$

(iv) $\text{Log} \log y = \log B + \log \log B$

$$= \log a + \log \log a + a \log a$$

(v) $\text{Log}\, D = y \log y$

(vi) $\text{Log} \log D = \log y + \log \log y$, and so on

(8) $\text{Log} \log D \angle B^2$

This inequality gives the inequality...

$$B \log B + \log B + \log \log B \angle B^2$$

In Sanskrit Mathematical work we do not come across this idea of Lagarithms It was, I believed an exclusive invention of the Jainas and was used by them only. No attempt seems to have been made to construct a table and therefore the idea although elegant could not be developed into a theory to help numerical calculations In fact Mathematics was not advanced enough for the development of Logarithms at such an early date. The wonder is that the idea was at all used at such early date.

Fractions Division was a difficult process when the place value notation was not used Although the fundamental arithmetical operations on fractions were known yet it was a matter of difficulty to use fractions in calculations The Arithmetians of those days had to use various devices which were given up at a later date I mention the following as instances of devices which were current in India before the place value of notation came into general use These instances are taken from the commentary of the Dhavala

(1) $\frac{n^2}{n \pm (n/p)} = n = \frac{n}{p \pm 1}$

(2) Let a number m be divided by the divisors d and d, and let q and q be the quotients (or the fractions) The following formula gives the result when m is divided by $d \pm d'$

$$\frac{m}{d \pm d} = \frac{q}{(q'/q) \pm 1}$$

$$\text{or} = \frac{q}{1 \pm ' q/q)}$$

(3) If $\frac{m}{d} = q$ and $\frac{m}{d} = q'$, then

$d(q - q) + m = m$

(4) If $\frac{a}{b} = q$ then

$$\frac{a}{b + \frac{b}{n}} = q - \frac{q}{n+1}$$

and $\frac{a}{b - \frac{b}{n}} = q + \frac{q}{n-1}$

(5) If $\frac{a}{b} = q$ then

$$\frac{a}{b+c} = q - \frac{q}{\frac{b}{c} + 1},$$

and $\frac{a}{b-c} = q + \frac{q}{\frac{b}{c} - 1}$

(6) If $\frac{a}{b} = q$ and $\frac{a}{b} = q + c$, then

$$b' = b - \frac{b}{\frac{q}{c} + 1},$$

and if $\frac{a}{b'} = q - c$, then

$$b' = b + \frac{b}{\frac{q}{c} - 1}$$

(7) If $\frac{a}{b} = q$, and $\frac{a}{b'}$ is another fraction, then

$$\frac{a}{b} - \frac{a}{b'} = q \frac{(b' - b)}{b'}$$

(8) If $\frac{a}{b} = q$, and $\frac{a}{b+x} = q - c$ then

$$x = \frac{bc}{q - c}$$

(9) If $\frac{a}{b} = q$, and $\frac{a}{b-x} = q + c$, then

$$x = \frac{bc}{q + c}$$

(10) If $\frac{a}{b} = q$, and $\frac{a}{b+c} = q'$, then

$$q' = q - \frac{qc}{b + c}$$

(11) If $\frac{a}{b} = q$ and $\frac{a}{b-c} = q'$, then

$$q' = q + \frac{qc}{b - c}$$

—To be continued

it would have existed either as a multiplicity of independent wholes of discrete and formless atoms or as aggregates of formed bodies consisting of such atoms (avayavinah) Of these two alternatives the first does not stand to reason because the condition of perception as pramāna fails here That which does not flash in its own form (svenākārena na pratibhāsate) in an act of perception is never cognisible by it It is no more an object of perception than the sky-lotus (*gaganaulinam*) The object of perception must be a formed something and must not be too subtle for the senses. Perceptibility of an object must be pervaded by manifestability in its own form [1] But the discrete atoms are formless and unmanifested and are therefore not amenable to perception *Bhadanta Subhagupta*, representative of one section of Vijñānavādins, though advocating this view also, yet points out that atoms are undoubtedly imperceptible in their discrete and unaggregated states but come within the range of perception when they enter into aggregates

But Śāntaraksita contends that even aggregation need not transform the formless atoms into an object of perception, and thus refutes *Subhagupta's* contention. His arguments are that the atoms are in themselves indivisible in character and therefore formless and if they are not to forego their invariable character of indivisibility they cannot acquire, even when aggregated, any appreciable size or dimension (pārimāndalya), and to take the aggregate of atoms as having form and size is to indulge oneself in a delusion as much as when one mistakes the successive similar vijñānas of sound for the vijñāna of eternal sound [2] Śāntaraksita thus proves that the perception of indivisible atoms even in their aggregate is impossible

Having shown that the atoms either in isolation or in aggregate are not amenable to perception Śāntaraksita now undertakes to prove that even by inference the existence of an independent avayavī or a thing having magnitude over and above its constituent atoms cannot be established. The inference which is implemented here for the proof of avayavī is formulated thus: '*Vastu avayavī sthūlatvāt parvatādivat*" Now on examination of the *hetu* or the middle term, sthūlatva, in this piece of inference, we find that the

1. 'Ātmākārapratibhāsitvena pratyakṣasya vyāptitvāt—T S P p 551
2. S. T sl. 1972

hetu, sthūlatva is only *assumed* to reside in the sādhya or major term *avayavi* as well as in the dṛstānta or illustration, pa atādi But it does not really b long to either of th m, for what else is sthūlatva than a mere aggregate of the imperceptible (sūksma pracayarūpam)? Nor will it do to say that what is visible like the mountain is sthūla or gross and what is invisible like the atoms or binary atoms is sūksma or subtle, for this introduces without warrant a duality into the dharmi or the substantive The dis tinction is gratuitous The so called sthūla inspite of its visibility should hardly be distinguished from an aggregate of the sūksma or subtle which is invisible Therefore, the *hetu*, sthūlatvam does not really belong to the sadhya *avayavi* and is thus is a case of *asiddhahetu* or unproved middle term Nor does the *hetu* really reside in the dṛstānta or illustration parvatādi for the same reason Hence the dṛstanta is also defective and is technically called sādhana vikala Again if it be suggested by the realist that the rūpam or formedness is too well known in our waking life as it is the common feature of all things that appear spread out in spac (deśavitān na) and there fore cannot be ignored owing to the fact that all sthūla objects possess rūpam, the Vijnānavādi replie that that does not ensure the presence of the *hetu* in the sādhya for in erroneous dream conscious ness also we feel the presence of rūpam or avayavitva though there is no waking consciousness on our part of sthūlatva or paramānu pracaya So the Vijñānavādin charges the *hetu* of the realist with the further fallacy of anaikāntikatva or sandigdhatva The *hetu* or the middle term of a valid inference should be connected with one or other of the two ekāntas, whether with the sadhya or the major term which is one ekānta or with the sādhyābhāva i e what is other than the sādhya which is another but never with both But if it is connected as it is here, with both the sādhva and the sādhvā bhāva it becomes anaikāntika and the result will be that it raises a doubt or suspicion as to the connection between the sādhya and the paksa i e, the major and the minor terms H nce the Vijnānavādin concludes that the vāhyārtha as having *avayavitva* is not amenable to inference

Having thus repudiated the vāhyārtha as an object either of perception or of inference the Vijnānavādin now undertakes to

demolish the distinction of the elements of grāhya and grāhaka, the cognisable and the cognisant, in cognition This task becomes easy for the Vijñānavādin because the vāhyārtha or the cognisable external world has already been dismissed when he has shown that it is amenable neither to perception, nor to inference The grāhya or the object of cognition has its meaning only in relation to the grāhaka or the subject and *vice versa* Now the grāhya or vāhyārtha as one of the *releta* having been demolished the other must necessarily go And when this relation of the cognisable and the cognisant breaks down as a result of elimination of both the relation what remains as ineliminable is vijñāna, pure and simple, (Vijñaptimātratā) which shines by its own light. Now Vijñāna by its very nature is an indivisible (Anansa) and unitary and instantaneous and admits of no trifurcation (triputi) into the knower, the known and knowledge as the Mimāmsaka supposed in every act of cognition Its essence consists in pure self-cognition or cognition of itself (svasamvedana) as such It is self-illumined and self-centred psychosis and does not stand in need of its other to illumine [1] Cognition to the Vijñānavādin is not the cognition of an *object* nor is the object, needed for cognition. The real knowledge-situation for the Vijñanavādin is this that both cognition and the object are only two logically distinguishable but really inseparable aspects of one and the same act of awareness The epistemic process is not from the object to cognition as the realist supposes, but rather from cognition to the object Nor is the object produced by cognition (*na* jñānam *janakam* tathā). The Yogācāra Buddhist postulates an identity between an object and its cognition as they are always and invariably experienced together. The blue and the cognition of the blue are one and the same, because, as experience tells us, they go together (sahopalambham *Yamat abhedo* nīlataddhiyoh)[2] and the apparent distinction that the common mind makes between object and its cognition is due to illusion To be aware is to be aware of an object, but that does not mean that there is any division or demarcation between awareness and its content In an act of awareness the awareness takes on a specific form, so that, awareness is never without form,

1. T S, sl 2001-2008
2 Dharmakirti's Pramāna vārttika-kārikā also, T S sl. 2031.

but the form it assumes is not imposed up on it '*ab extra*—it is to be traced back to some impression (vāsanā) left behind by some past experience which is traced to a second and this again to a third and so in an infinite regress But the Yogācāra contends that this infinite regress is no harm because it is his very postulate that vāsanā is anādi or eternal It follows then that cognition in any particular stage of any psychical centre is determined by nothing external but is always a fruition and functioning of the ideational energy of the vāsanās eternally stored up and continuously rein forced in its career in this and all previous existences These arguments to establish phenomenalistic idealism that cognition is entirely determined by experience past and present and that the supposition of any so called object determining cognition is a delusion of the mind have been attempted to be further reinforced by the Yogācāra Buddhist when he has urged that the so-called external object, if it had any objectivity of its own and if it controlled our cognition could not have impressed psychical centres in different ways and even the same psychical centre under different circum stances differently [1] The differences in cognition are all traceable to the Sakti or potency of the Vāsanās but never to the varied characters of the objects of an external world which the Realist hypostatises

Thus the dualism between the object and its cognition is all due to false knowledge or misunderstanding of the real knowledge-situation The distinction of grāhya and grāhaka, the cognisable and the cognisant melts into one identical awareness which admits of no such distinction It is interesting to note that this view of non dualism or *abheda* between the object and its cognition is closely connected with the Yogācāra definition of pratyakṣa and is traceable to Ācārya Dignāga the father of mediaeval Buddhist logic. The Yogācāra Buddhist s theory of pramāna therefore reduces cognition and its validity to mere psychical phenomena which are self revealed and self generated and are independent of any external object which is really a non entity and the distinction of factors into the known and the knower is wholly inadmissible in any knowledge situation [3]

1 Vid S V (Sūnyavāda sl 59) also Nyāyaratnākara thereon
2 Cf Dignāga s Pramāṇasamuccaya (I 3) and Nyāyapraveśa
3 *Vide Dharmottara s* Pramā avinscaye I

Having presented the Yogācāra theory of pramāna we now propose to estimate its value from the standpoint of Jaina logic. What the Vijñānavādin strives to establish with all his dialectical polemic amounts to nothing more than the setting up of the reality of a never-ending series of vijñānas or psychoses originating inwardly owing to the beginningless series of vāsanās or vestiges of past impressions without being determined '*ab extra*' by anything external to them. The vāhyārtha has been shown by him to be a pure non-entity. The Jaina here points out that the cognition to the Vijñānavādin is thus only svavāsi, i. e., a cognition originating from and illumining itself. He then joins issue with the Vijñānavādin and charges him with a number of fallacies that vitiate his position. But before entering into the details of his charges against the Vijñānavādin we would do well to point out that the Jaina refutation of the Vijñānavādin has a double aspect. It is in the first instance negative and destructive in so far as it shows that the absorption of vāhyārtha into vijñānas proves contradictory from the point of view of both pratyaksa and anumāna. Secondly, it is positive and constructive in as much as it establishes the reality (paramārtha satta) of the external object by arguing out the absence of proof, both perceptual and inferential, to the contrary (vādhaka-pramānābhāvāt).[1]

Siddharsi Gani in his Vivrti on *Siddhasena's* Nyāyāvatāra has given us a chain of arguments showing that cognition is an impossibility on the denial of the cognisable. First of all he points out that on the analogy of dream-consciousness for which there seems to be no corresponding perceptible object the Vijñānavādin cannot argue that cognition is possible in the absence of the vāhyārtha. In dream-consciousness one indeed enjoys ideas of various kinds without corresponding percepts such as those of the forest, the gods and similar other things. Siddharṣi, however points out quite in keeping with scientific psychology that the dream-images of the various things are not without reference to their corresponding percepts in waking consciousness. They are rather dependent on the effects or vestiges of perceptual activities stored up in the psychical

1. T. B. V. Page 480-488

apparatus and revived by suitable exciting causes both physical and physiological[1] and according to the laws of association For if the dream images were entirely indep ndent of actual p rcepts th n we could have exp cted in our dreams for in tance, a vision of the sixth element over and above the five actually perceived by us but this is never the cas H further argues that w thout the assumption of vāhyārtha as determining our perceptual knowledge it is impossible to account for our cognition of the variety in colour and dimension of obj cts by m re vijñānas The Yogacara Buddhist here would of course have recourse to his universal solvent of the beginningless impression resulting from ignorance (anadyavidyā vāsanā) to extricate himself from the impasse The Jaina however is more than a match for the Vijñānavādin and puts him on the horns of the following insoluble dilemma if vasanā is responsible for th variedness of perception then this vāsanā must be either (a) different from or (b) identical with knowledge (a) Now if the vāsanā be different from knowledge then the Vijñānavādin must have to posit some other jñāna which will enable him to cognise this difference All cognition is a form of vijñāna and no cognition is possible without vijnāna But in cognition of this difference is necessarily involved a cognition of some form other than vijnana itself If how ver, it is contended by the Vijnanavādin that we infer v sanā as distinct from, but at the same time originating the vijñānas which are vitiated by the mistaken subject object relation, to this conten ion also the Jaina would reply that such an inference really implies as its precondition, *some connection* between the vāsanā as the pre existing cause and the relational vijñānas as its effect Such a connection, however is impossible from the Yogācāra stand point, for according to it the duration of a vijñāna beyond the moment of its appearance and the supposition of a soul over and above the momentary vijñānas to connect them are both rejected as unwarrantable Mo eover such an inference of vāsanā has been the source of the three following inconsequenc s —First, it militates against common exp rience and ordinary practice in so far as we

---

1 Cf Tippata of *Devabhadra* on Siddhar s Vivrti on *Siddhasena s* Nyāya tattra (karikā 1) (P L Vaidya s edition)page 11

all know that in perception at least knowledge arises from nothing other than the relation between the mind, the senses and the object in our daily life, secondly, vāsanā is something of the nature of the unseen and the supernatural which no scientific theory of knowledge will encourage, thirdly and lastly, if through the agency of vāsanā one simple vijñāna could possibly assume infinite variety of forms then through the same agency what is unconscious or jada may be conceived to manifest itself as conscious For nothing is impossible for what is supernatural In view of these inconsequences the Vijñānavādin ought to have been a convert to the view that it is the *artha* or the external object and not vijñāna even if aided by vāsanā that is responsible for the variedness of perceptual knowledge (b) Again if vāsanā were identical with jñāna then it must operate as jñāna and not as vāsanā in which case the difficulty of explaining the variedness in the forms and colours of objects remains as unsolved as ever [1]

Prabhāchandra, one of the subtlest of the Jaina dialectians refutes the Yogācāra denial of the extramental reality (vāhyārtha) and establishes the position that pramāna or valid cognition cannot ignore the knowledge of such reality as one of its contributory conditions in a somewhat different way.[2] He exposes all the possible absurdities consequent upon such denial by a dialectic which should astound even the subtlest of the realists, Eastern or Western His argument is as follows. The Yogācāra Buddhist, like the Sautrāntika, admits that knowledge is sākāra, i e., with form. The Yogācāra maintains that the form which knowledge assumes does not proceed from an admitted extramental reality but is generated within knowledge somehow by the beginningless vāsanā due to ignorance, and our knowledge is always an identity of the cognisable and the cognised (visayasārūpya) based on the postulate of indissolvable appreception (sahopalambhaniyamah) But Prabhāchandra points out in the first instance, that the very postulate of identity of cognisance and the cognised really yields duality and not unity of cognition and content For when we are said to have cognition

---

1 *Ibid* Page 12.

2 *Vide*, P K M pp 27 ff. and *Sammatitarka* pp 484 ff

of something blue, it involves a knowledge of the form of the blue (nīlakārajnāna) as also of its jaḍatā or insentience as we have in the case of our perception of a pillar Now here a two fold suggestion is possible It may be suggested that knowledge here has either two distinct aspects or only one If it has two distinct aspects then one of these two aspects is conscious comprehending the knowledge of the blueness of the object and the other is unconcious and identical with its jaḍatā But in that case the one indissoluble character of the apperception has to be abandoned which is contrary to the Yogācāra postulate If, however, a third form of knowledge is assumed which partakes of both these characters then corresponding to these characters this third form of knowledge will have a two-fold aspect and the original knowledge will cease to function owing to its cognitive incompetency and will be reduced to something jaḍa or unconscious Again, if we accepted the other alternative suggestion that knowledge must have only *one* aspect competent to grasp both the blueness of the thing and its physicality then it will be both partly conscious and partly unconscious at the same time It will be conscious in so far as it grasps the blueness which is cognate in character with consciousness (svātmabhūtatayā) and it will also be unconscious in so far as it grasps the physicality of the object which is of a different character from itself (atadākāreṇa) and the result will be what is called the fallacy of arddhajaratīnyāya or the principle of one and the same thing being half young and half old, which is absurd

Abhayadeva evinces a still higher dialectic acumen when he refutes Yogācāra's difficulty of cognising the Jaḍatā or the anticipated solution of the uncon cious element in the cognition of blue The Yogācāra here might have recourse to an analogical argument to prove his case on the strength of svayam pratipannatā or self evidence of the knowledge of vyāpti or universal concomitance in the following analogous cases He might urge with the help of an analogy that just as there is the svapratibhāsa or self revelation of the awareness of pleasure and pain even so there is self revelation of vyāpti or universal concomitance[1] between Sukhādi prakāśana or

---

1 Sukhādiprakāśanam jñānavyāptam svayam pratipannatvāt

revelation of pleasure and pain and revelation of cognition as such On this analogy he argues that there is a similar self-revelation of universal concomitance between the awareness of the blue object which is jada and self revelation of cognition as such And the result is that the so-called unconscious element in the cognition of the blue object is now reduced to unity with self-revelation by the help of this analogy and the supposed difficulty of the arddhajaratiynyāya is proved more apparent than real Now *Abhayadeva* gives the rejoinder by raising the question, if there is really any vyāptiniścaya in this case The possibility of this vyāptiniścaya will be based either on common observation (darśanāt) or on an analogical argument Now it cannot be based on common observation, because when we try to prove the truth of a thing by having recourse to common observation then we must show that its opposite is inconceivable (vipakṣebādhakabhāvaḥ) But in this case of the vyāptiniścaya in question there is no real inconceivability of the opposite Again, the analogy between the apprehension of pleasure (sukhādiprakāśanam) and the awareness of the blue object (nīlādiprakāśanam) is unsound because the illustration and the illustrated (dṛṣṭānta and darṣṭāntika) have no strong point of resemblance on which the analogy can be based To argue that the apprehension of nīla is characterised by conscious element is as absurd as to argue that a being is a puruṣa because it is marked by limited knowledge *Abhayadeva* goes deeper into the matter and undermines the very analogy between them He argues that the common element, between the two inferences (1) Sukhādiprakāśanam jñānavyāptam *svayam* pratipannatvāt and (2) nīlādiprakāśanam jñānavyāptam anyapratipannatvāt, is the jñānavyāptatva which is the major term for both of them Now the *hetu* in the case (1) is different from the *hetu* in the case (2) In the former case the *hetu* is *svayampratipannatva* i. e, the quality of self-revelation, that is to say, the apprehension of pleasure carries with it the conviction that it is pervaded by self-revelation without the help of any extraneous proof; in the latter case it is not self-revealed but is only acquired through some other extraneous source of knowledge and is therefore mediate in character (kutaścitpramāṇāt pratīyate) Nor can it be maintained that the awareness of pleasure is linked up with the awareness of the blue

object so that the self cognitive character of the cognition of th blue object which is jada, may be established on the basi of its affinity with the self cognitive character of cognition of sukhādi For such an affinity of the one with the other is not a p oved psychological law with the Buddhists Thus in the awareness of the blue obj ct the two contradictory elements of self revelation and unconsciousness (svaprakāśatā and jada ā) stand unreconciled with the result that the contention of the Vijñānavadin that the object of cognition viz the blue, and the cognition of the object are identical is not proved

The issues raised here by the argum nts of the Vijñānavādins as to the relation of cognition to its forms (jnāna an l tadākāra) have received a different orientation at the hands of Prabhā andra Suri in strict conformity to his realistic po ition In the origin of knowledge there are three elements involved cognition its object and the form that the cognition assumes in the illumination of its obj ct It is not the right view to think that the relation of cognition with its obj ct, is determined by its own inner form which is already there, nor is it true to think that cognition first arises as something amor phous and then comes to be related some how with the object and acquires its form The fir t alternative is not possible becau e cognition is never and nowhere been found to be determined by its own inner form, while it always appears related with its obj ct. The relation of cognition with its obj ct is always found to be arising in connection with the asc rtainment of a sp cial kind of the object it cognises but it is never found to be arising as an already established amalgam of cognition and its ob j ct The second alternative that knowledge is originally amorphous and then takes on the form of its object is also untenable on the same ground nam ly that all knowledge is relat d to its p culiar object Knowledge is thus neither already endowed with form of its own nor is it altogether formless. For in any case of knowledge there is its p culiar object and cannot do without cognising it and without assuming its form While Prabhā andra says all this he also reminds us that knowledge is self suffi ient (*svatantra*) and self origina ing But while originating by itself it receives co operation of the enses and of the object to which it is related and whose form it assumes (svākāranai stajjna

nenārthasaṁ vodhamevotpādyate) [1] He agrees with the Buddhist in his repudiation of the idea that the senses are responsible for the form of knowledge on the ground that in the case where the object is not at hand knowledge appears to be without form, the senses operating not withstanding Again, the Vaibhāsika position that jñāna or cognition is intrinsically amorphous (nirākāra) does not stand to reason because it is suggestive of the anomaly that under any circumstances independent of specific object knowledge of all forms becomes possible But as a matter of fact we do have distinctive forms of knowledge corresponding to and in a way deter mined by the object The Jaina includes the senses as well as the object as conditions of cognition yet he never intends to convey thereby the idea that cognition owes its origin to them For to do that is to play into the hands of the Naiyāyika according to whom cognition originates in the contact between the object and the senses (indriyārthasannikarsa) But the Jaina, be it noted, summarily dismisses this view because it involves us in the absurdity of supposing that the conscious comes out of the unconscious, that knowledge which is in itself svaprakāśa comes out of the senses and the object which are in themselves aprakāśa or jada The epistemic process with the Jaina is thus not from cognition to object as the Yogācāra maintains nor again from the object to cognition as the Naiyāyika thinks, but rather takes its rise from its own self-functioning and in its own autonomous way takes the object into its confidence as it were and assumes its form as it illumines it

We cannot, however, close our critique of the Yogācāra view of pramāna without considering well-known definition of pramāna which *Dharmottara* offers. The definition is as follows —

"Avisaṁvādakamjñānam samyagjñānam" [2]

Dharmottara means to say that jñāna or cognition is to be called *samyak* or valid when it is avisamvādakam By avisamvādakan or samvādakam jñānam he understands its capability of leading or fitness to secure for us, the cognised object (pradarśitārthaprāpitvam). To be aware correctly of an object is to act upon it, and there is temporal

1. P. K. M Page 28.
2. Nyāyavindutīkā—Page 3

separation between the awareness of the object and conative fulfilment with regard to it *Dharmottara* adds that the result of pramāna is the cognition of the object[1] and concludes that that cognition is valid (pramāṇam) whose object is as yet uncognised (*anadhigata*)[2] Now *Dharmottara's* definition of valid cognition and its implications have been subjected to various objections by the Jaina writers The first point to which the Jaina takes exception is the epithet *anadhigata* But we need not repeat the Jaina's arguments against the element of *anadhigata* in valid knowledge for we have had already an elaborate criticism of it when we reproduced Hemcandra's criticisms of the misunderstanding involved in gṛhīta grahītā and his final inclusion of it in valid cognition As for the other points of criticism of *Dharmottara's* definition of valid cognition we may note the following According to *Dharmottara* the validity of cognition is determined by its prāpaṇaśakti which is said by the Vijñānavādin to consist in generating pravṛtti either by way of effortful attainment when the object is upādeya or desirable or by way of effortful eschewing when the object is *heya* or undesirable Now the Jaina thinks that the Vijñānavādin is evidently guilty of an omission because objects have, besides desirability and undesirability a third feature namely neglıgibility (upekṣaṇīyatā)[3] The Jaina believes in three different values of things the good the bad and the indifferent, and indifference or negligibility cannot be denied as the third value to be attached to objects on the basis of experience And in the case of an indifferent object pravṛtti or conscious effort on the part of the cogniser is necessarily absent Hence the Vijñānavādin is not exhaustive in his account of things and of the pravṛttis arising therefrom Again, if as the Vijñānavādin supposes, all valid cognition issues forth in pravṛtti or conative effort in regard to pradarśitārtha or the *artha* or object as *presented*, it seems anomalous to extend the same criterion or validity to anumāna as a form of valid knowledge For in *anumana* or inference the *artha* or object is not presented to but is always past distant and future[4]

1 Arthādhigatireva Pramāṇaphalam"—*Ibid*
2 *Ibid*—Page 4
3 Nyāyamañjari—p 22 (Chowkhamba Series 1936)
4 *Sammatitarka*—Pages 468-471

out is that of avisamvādaka on which however the Vijñānavādin, like the members of the other schools of Buddhism, must insist for pragmatic test of truth. For as a pragmatist the Vijñānavādin cannot but depend on conative effort as the criterion for the validity of cognition, but unfortunately he forgets that the *artha* or the object can never be made to satisfy this pragmatic criterion of knowledge unless it must persist at least for a couple of moments while he has not the liberality to grant the object duration beyond a single kṣana.

LIST OF ABBREVIATIONS & REFERENCES.

T S P. — Tattva-Sangraha-Pancikā
T S — Tattva-Sangraha
S V — Sloka-Vārttika
T B V — Tattva bodha-Vidhāyini
P K M — Prameya-Kamala-Mārttanda
Dharmakirtti's Pramāna-Vārttika-Kārikā
Dignāga's Pramāna-Samuccaya
Dharmottara's Pramānaviniścaya
Siddhasena's Nyāyāvatāra
Siddhasena's Sammatitarka Prakaranam (Bhavnagar Edn)
Dharmotarāchāyya's Nyāya vindu tkā
Jayantabhata s Nyāyamañjari.